त्रैमासिक • जनवरी-मार्च 2007 • दस रुपये

मुक्तिकामी छात्रों नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

आह्वान
कैम्पस टाइम्स

विशेष लेख

कैम्पसों का बदलता वर्ग चरित्र और छात्र-युवा आन्दोलन की चुनौतियाँ

ग़रीबी का व्यापार और उसका पुरस्कार

मक्सिम गोर्की की कहानी 'युवा इटली'

निठारी काण्ड : पूँजीवादी व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति की ह्रास-कथा

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

• एक सांस्कृतिक मुहिम • एक वैचारिक प्रोजेक्ट • वैकल्पिक मीडिया का एक मॉडल

किताबें नहीं
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं
किताबें नहीं
हम असली इन्सान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं।
हम हैं उम्मीदों के हरकारे
हम हैं विचारों के डाकिये।

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम — शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। एक बड़े और एक छोटे प्रदर्शनी वाहन के माध्यम से जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

आम लोगों के लिए
ज़रूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुँचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज़ हवा का झोंका बन जाना होगा
ज़िन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुँचाना होगा।

जनचेतना परिकल्पना प्रकाशन, राहुल फाउण्डेशन (प्रकाशन प्रभाग), अनुराग ट्रस्ट (बाल साहित्य के प्रकाशक), शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन (पंजाबी राजनीतिक प्रकाशक), दस्तक प्रकाशन (पंजाबी साहित्यिक प्रकाशक) और प्रांजल आर्ट पब्लिशर्स (कला-सामग्री के प्रकाशक) के सभी प्रकाशनों के मुख्य वितरक की भूमिका भी निभाती है।

हमारे पास आपको मिलेंगे :

• सर्वोत्कृष्ट विश्व कलासिक्स • स्तरीय प्रगतिशील साहित्य • इतिहास, दर्शन और समाज-विज्ञान की चुनिन्दा पुस्तकें • भगतसिंह और उनके साथियों का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य • जीवन और समाज की समझ देने वाला और भविष्य का मार्ग बतलाने वाला क्रान्तिकारी राजनीतिक साहित्य • मक्सिम गोर्की की कृतियों का सबसे बड़ा संग्रह • दिमाग़ की खिड़कियाँ खोलने और कल्पना को पंख देने वाला बाल साहित्य • आकर्षक कलात्मक चित्र, पोस्टर, कैलेण्डर और कार्ड • क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट

मुख्य कार्यालय : डी-68, निरालानगर, लखनऊ–226020
फोन: 0522-2786782, ईमेल : janchetna@rediffmail.com
अन्य केन्द्र : • जनचेतना सचल पुस्तक प्रतिष्ठान, मोबाइल : 09818651276
• जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़, नोएडा, शाम 5 से 8 बजे तक, फोन : 9211273360
• सी-74, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली, फोन : 9213639072
• 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, 09415646383
• 154, शहीद करनैल सिंह नगर फेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना, फोन : 09888655663

आइये, आप भी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ भारतीय क्रान्ति का रास्ता मेहनतकश वर्गों के नेतृत्व में साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति का रास्ता है। यह नई समाजवादी क्रान्ति का रास्ता है। यह शहीदेआजम भगतसिंह का रास्ता है। क्रान्ति ही नाउम्मीदों की उम्मीद है। रसातल के अन्धेरे में जीने वालों की ज़िन्दगी की रोशनी है। मृत्यु के अवसाद को तोड़ने वाँले उत्सव का आह्लाद है। ''आह्वान'' इस तूफान का मुक्त कण्ठ से आह्वान करता है। ''आह्वान'' इस तूफान का आनन्द लेने के लिए सभी युवा तूफानी पितरेल पक्षियों को न्यौता देता है।

➢ पूरा भारतीय समाज आज एक ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। अब यह सच्चाई एकदम उजागर हो चुकी है कि रुग्ण-विकलांग, बूढ़ा-बौना भारतीय पूँजीवाद आम जनता को कुछ भी सकारात्मक नहीं दे सकता। मेहनतकशों की ज़िन्दगी को इसने लूटमार, उत्पीड़न-शोषण और असह्य पीड़ा-व्यथा के अँधेरे रसातल में ढकेल दिया है। अथाह दुखों के सागर में ऐश्वर्य के द्वीप और विलासिता की मीनारें, संसद में पूँजीपतियों की दलाल चुनावी पार्टियों के बहसबाज़ों की धींगामुश्ती, विदेशी लुटेरों को लूट की खुली छूट, भ्रष्टाचार के नित-निरन्तर भंग होते कीर्तिमान, संवेदनाओं को कुंद करती विकृत-बीमार साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति का धीमा ज़हर, संचार माध्यमों पर पूँजी की सर्वग्रासी पकड़, दिवालिया अर्थतंत्र, नंगा राजनीतिक तंत्र, बिकता न्याय, बेतहाशा मँहगी होती जा रही निरर्थक अनुपयोगी-अवैज्ञानिक शिक्षा, मामूली चिकित्सा के अभाव में मरते लोग–यही आज का वह नारकीय सत्य है जिसे फिलहाल, हारी हुई मानसिकता के शिकार लोगों ने अपनी नियति मान लिया है। इसे बदलने का रास्ता क्रान्ति का रास्ता है। क्रान्ति कठिन है, क्रान्ति का रास्ता लम्बा है, ध्वंसकारी है, पर इसके बिना नये का निर्माण असम्भव है। यही आज का ठण्डा सत्य है–नंगा सत्य है–पर यही मुक्तिदायी सत्य है। यही 'आह्वान' का निर्भीक उद्घोष है।

इस अंक में

पाठक मंच 2

अपनी ओर से

कैम्पसों का बदलता वर्ग चरित्र और छात्र-युवा आन्दोलन की चुनौतियाँ 3

सामयिकी

ग़रीबी का व्यापार और उसका पुरस्कार 7
पश्चिमी स्वप्नलोक की हक़ीकत 9
सच्चर समिति का सच 13
किसका विकास कैसा विकास : पूँजीपतियों के मुनीम की लफ़्फ़ाज़ी 38

साहित्य

युवा इटली (मक्सिम गोर्की की कहानी) 28
लहर (मर्ज़िएह ओस्कोई की कविता) 31

विश्व पटल पर

सद्दाम को फाँसी : बर्बरों का न्याय 11

समाज

गोरखपुर : दंगा नहीं, चुनावी बिसात पर साम्प्रदायिक बँटवारे का खूनी खेल 15
निठारी काण्ड : पूँजीवादी व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति की ह्रास-कथा 17
दुनिया में 30 करोड़ नौजवान ग़रीबी रेखा के नीचे 32

शिक्षा जगत

उन्हें प्रेमचन्द और पाश ख़तरनाक लगते हैं... 10

विरासत

मक्सिम गोर्की : एक सच्चा सर्वहारा लेखक 22

स्मृति संकल्प यात्रा के दो वर्ष 20

गतिविधि बुलेटिन

स्मृति संकल्प यात्रा के तहत दो दिवसीय साइकिल यात्रा 23
दिल्ली विश्वविद्यालय में नुक्कड़ नाटकों की श्रृंखला 23
नये वर्ष की पूर्वसन्ध्या पर रचनात्मक जनमेला 24
अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर विचार गोष्ठी 25
निठारी काण्ड के खिलाफ़ सघन एवं व्यापक पर्चा वितरण 26
नौभास द्वारा बुराइयों का होलिका दहन 26
नौभास, करावलनगर इकाई का चुनाव सम्पन्न 27
मर्यादपुर, मऊ में नागरिक अधिकारों के लिए ज़ोरदार संघर्ष 27

सकर्मक विमर्श

नयी पीढ़ी को फासीवादी विचारधारा की घुट्टी 34
संसदीय वामपंथी बातबहादुरों को प्रबन्धन कला सिखाने के लिए आमन्त्रण 34

आह्वान
कैम्पस टाइम्स

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 15 अंक 1 जनवरी-मार्च 2007

सम्पादक मण्डल
कविता/अभिनव

स्वत्वाधिकारी
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य
दस रुपये

वार्षिक
चालीस रुपये
(डाक व्यय सहित 50 रुपये)

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली फोन : (011) 65976788
स्वत्वाधिकारी आदेश सिंह द्वारा नौजवान कार्यालय, कल्याणपुर, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित।

पाठक मंच

'बिस्मिल' की विरासत से कुत्सित खिलवाड़

हर शासक और शोषक वर्ग जनता और उसके नायकों के विचारों को दबाने की कोशिश करता है परन्तु जब वे विचार नहीं दबते और उन विचारों की स्वीकार्यता अवाम में हो जाती है तब वह जनमानस से उन विचारों को विस्मृत करने की लगातार कोशिशें करता रहता है। जनता फिर भी अपने नायकों को और उनके विचारों को नहीं भुलाती। तब शोषक वर्ग उनके विचारों को गन्दा करने, उन्हें बनाकर जनता को उन विचारों से काटने की कोशिश करता है।

आज ऐसी कोशिशें वैसे तो पूरे देश के पैमाने पर शासक वर्ग द्वारा सुनियोजित ढंग से की जा रही हैं, लेकिन जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ के प्रतिक्रियावादी हिन्दुत्ववादियों के कारनामों की तरफ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। मैं पूर्वी-उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक शहर गोरखपुर में रहता हूँ। यहाँ पर क्रान्तिकारी रामं प्रसाद बिस्मिल ने 19 दिसम्बर 1927 को जिला कारागार में देश की आज़ादी के लिए हँसते-हँसते फाँसी के फन्दे को चूमा था।

बिस्मिल की शहादत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष के साथ ही हिन्दू-मुस्लिम एकता का भी प्रतीक है। पण्डित राम प्रसाद ने अपने नाम के साथ 'बिस्मिल' जोड़कर और क्रान्तिकारी अशफाक उल्लाखाँ से गहरी मित्रता के द्वारा साम्प्रदायिक सदभावना की एक मिसाल कायम की थी।

लेकिन यहाँ की प्रतिक्रियावादी हिन्दूवादी ताकतें उन्हें साम्प्रदायिक रंग देते हुए उन्हें हिन्दूवादी बताकर, उनके विचारों को विकृत करने के साथ ही साथ उन्हें पूजक बनाने की भी कोशिश कर रही हैं, ताकि हिन्दू लोग बिस्मिल की पूजा करते हुए अन्य धर्मों के लोगों का खून बहायें। इससे प्रतिक्रियावादी एक तीर से दो निशाना लगा रहे हैं। एक तो बिस्मिल के असली विचार नष्ट हो जायेंगे दूसरे वे जनता को बाँटकर उनकी लाशों पर वोट की राजनीति करेंगे।

19 दिसम्बर के दिन तमाम हिन्दूवादी संगठन बिस्मिल के शहादत स्थल शाहपुर जेल में जाकर, वहाँ के माहौल को भगवा बनाकर बिस्मिल की मूर्ति पर पूजा-अर्चना, हवन आदि करते हुए अपने भाषणों में दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को गालियाँ देने के साथ ही उन्हें दोयम-दर्जे का नागरिक बनाकर रखने की घोषणा करते हैं और भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य से हिन्दू राष्ट्र बनाने का मंसूबा बाँधते हैं। ऐसा करके वे लोग न केवल जन-भावनाओं के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं, बल्कि शहीदों के विचारों को लांछित और अपमानित कर रहे हैं।

हमें इन तथाकथित राष्ट्रवादियों से इतिहास को बचाना होगा। किसी चिन्तक ने ठीक ही कहा है कि अगर तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली दागोगे, तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा।

प्रमोद कुमार
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

स्टैच्यू ऑफ लिबर्टी

आज सुबह ही तो
मध्य पूर्व से आने वाली
उदास और क्रुद्ध हवाओं ने
मेरे चेहरे पर
खून के चीथड़े,
कानों में बेबस चीखें,
और आँखों में पाशविकता के दृश्य
बिखेर दिये हैं,
वे ही
जो पिछली रात
अबू ग़रेब के यातनागृहों में
घटित हुए थे।

दोपहर होते-होते, मैं
एक सौ साठ डिग्री तक झुक चुकी हूँ
और शाम तक पूरी तरह ज़मीन पर आ जाऊँगी,
नहीं तो,
डॉलर के दैत्य मेरे शिखर पर
स्वतन्त्रता की झूठी पताका फहरा देंगे।

प्रदीप चौहान 'शान्ति'
करावलनगर, दिल्ली।

आह्वान

नैश तम छाया हुआ यह आज है
अब तुम्हें जाना पड़ेगा रोशनी हित
कब तलक ढूँढोगे स्वर्णिम प्रात की सुन्दर छटा
अन्धकारों की दया पर;
मध्यरात्रि में तुम्हें चिंगारियाँ बोनी पड़ेंगी,
तुम्हें कल का सूर्य बन उगना पड़ेगा।
जो सुनाते हैं तुम्हें इस नियति की कहानियाँ
ध्वंस करने के लिए यह नियति
तुमको है सुनाती
भैरवी हुंकार की अति ओजमय कुर्बानियाँ
जल रही जो पीड़ा की ज्वाला तुम्हारे हृदय में
रोशनी उससे दिखाओ स्वयं को
क्रान्ति का आह्वान सीने में लिए
नौजवानो हिन्दुस्तान के, उठो!
तुम्हें उठना है नहीं कुछ माँगने हित,
नरभक्षियों से नहीं कुछ याचना हित,
माँगना भी क्या सर्वजग, सर्वसृष्टि है तुम्हारी
छीन लो अधिकार तेरा हर दिवस हर स्वप्न पर है।
हो सजग आवाज़ तुमको दे रहा हूँ क्रान्ति की,
मैं नहीं कहता समक्ष तुम्हारे बातें भ्रान्ति की,
तुम सचेतन हो अगर तो ज़रा सोचो,
स्वयं अपने से कुछेक प्रश्न यह पूछो,
भूख से वे लोग मरते, जो उगाते अन्न हैं,
हैं पसलियाँ दिख रहीं, हैं होंठ सूखे
भूख से हैं तिलमिलाते वही बचपन
सूखकर बिन दूध होते माँ के स्तन,
पूछ लो, ये लोग आख़िर कौन हैं?
कौन हैं जो ठण्ड में मरते रहे
वस्त्र गोदामों में जब भरते रहे,
कौन हैं वे आर्तनादी भूख में
अन्न गोदामों में जब सड़ते रहे।
कौन हैं जो जंगलों में भी बनाते हैं बसेरा
और अपने खून से अट्टालिका निर्माण करते
और किनकी अस्थिमज्जा चूसकर नरभक्षी नर ये
सभ्य खुद को कह रहा—वे निर्वासित नर कौन हैं?
क्या कभी देखा है तुमने?
मर रहे असहाय नर को
सभ्यता सिरमौर के प्रांगण
महानगरों में आकर।
सभ्यनर की स्वार्थ शिक्षा
मुस्कराकर निकल जाती
और एक जीवन तड़पकर शान्त है।
कह रही हैं नीतियाँ बचपन बचाओ,
लूटकर माँ-बाप के संसार को पुण्यकर्मी

(पेज 16 पर जारी)

कैम्पसों का बदलता वर्ग चरित्र और छात्र-युवा आन्दोलन की चुनौतियाँ

पिछले दो दशकों के दौरान देश के कैम्पसों में एक चुप्पी छाई रही है। कहीं भी वास्तविक मुद्दों को लेकर कोई बड़ा छात्र आन्दोलन नहीं हुआ है और एक सन्नाटा पसरा रहा है। हालाँकि संघर्ष के मुद्दों में कहीं कोई कमी आने की बजाय लगातार बढ़ोत्तरी ही हुई है। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में मानव संसाधन मन्त्रालय की आम नीति के तहत लगातार सीटों में कमी की गई है और फीसों में वृद्धि की गयी है। सीटों में कमी निरपेक्ष रूप में नहीं बल्कि कुल उच्चतर शिक्षा के योग्य नौजवान आबादी की तुलना में हुई है। ऐसे में इस बात की जाँच-पड़ताल प्रासंगिक हो गयी है कि इस चुप्पी के पीछे कौन से कारण काम कर रहे हैं। हमारा नज़रिया तथ्यों से सत्य के निवारण का होना चाहिए। इसलिए इससे पहले कि कोई परिणाममूलक बात कही जाय, उच्चतर शिक्षा से जुड़े कुछ आँकड़ों पर निगाह डाल लेना उपयोगी होगा।

भारत दुनिया भर में विश्वविद्यालयों की भारी संख्या और स्नातक और स्नातोत्तर छात्रों की भारी संख्या के लिए जाना जाता है। इस बात का काफ़ी प्रचार पिछले दशक के दौरान किया गया है कि भारत में स्नातक और स्नातकोत्तर छात्रों की आबादी काफ़ी ज़्यादा है। लेकिन इस बात में बहुत दम नहीं है। संख्या के अधिक या कम होने का फैसला कुल उच्चतर शिक्षा योग्य आबादी के साथ उच्चतर शिक्षा तक पहुँच पाने वाली आबादी के अनुपात से होना चाहिए। और ऐसे समय में जब सरकार खुद कहती है कि पारम्परिक उच्चतर शिक्षा का *'सिग्नलिंग इफेक्ट'* ख़त्म हो गया है, यानी रोज़गार आदि के लिहाज़ से उसका कोई मूल्य नहीं रह गया है और अब पेशेवर पाठ्यक्रमों और वोकेशनल पाठ्यक्रमों का ही रोज़गार आदि की दृष्टि से कोई मतलब रह गया है, तो यह बात सोचने की है उच्चतर शिक्षा योग्य आबादी का कितना प्रतिशत हिस्सा इन पेशेवर पाठ्यक्रमों और वोकेशनल पाठ्यक्रमों में दाखिला लेने की कूव्वत रखता है। कुछ बड़े और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को छोड़ दिया जाय तो पारम्परिक उच्चतर शिक्षा, यानी बी.ए.-एम.ए.-बी.एस.सी-एम.एस.सी. जैसे पाठ्यक्रमों का स्तर काफ़ी नीचे गिरा है और वे रोज़गारोन्मुख नहीं रह गये हैं। आई.आई.टी. और मेडिकल तक पहुँच पाने की हैसियत सिर्फ़ उच्च मध्यवर्ग और उच्च वर्ग की ही है। भारतीय प्रबन्धन संस्थान जैसी जगहों पर तो उच्च मध्यवर्ग भी बड़ी मुश्किल से ही पहुँच पाता है और वह पूरी तरह अमीरज़ादों की बपौती बना हुआ है। इनमें जाने वाले धनी छात्रों का सपना भारत में रहना होता ही नहीं है और उनकी पूरी शिक्षा ही इस तरह से होती है जो उनके बाहर जाने का रास्ता साफ़ करे। दूसरी तरफ़ विश्वविद्यालय कैम्पसों का भी तेज़ी से कुलीनीकरण हो रहा है। पुरानी पारम्परिक उच्चतर शिक्षा को भी कुछ वर्गों का विशेषाधिकार बनाए जाने की प्रक्रिया 1986 की नयी शिक्षा नीति के बाद, और ख़ास तौर पर भूमण्डलीकरण-उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से तेज़ी से चलायी जा रही है। यह बात कुछ आँकड़ों से ही साफ़ हो जाती है।

2005 के मध्य तक भारत में 342 विश्वविद्यालय थे जिनमें से 18 केन्द्रीय विश्वविद्यालय, 211 राज्य विश्वविद्यालय, 95 मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय, राज्य कानून के तहत स्थापित 5 संस्थान और राष्ट्रीय महत्व के 13 संस्थान हैं। कॉलेजों की संख्या उसी समय तक 17625 थी जिसमें से 5386 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। इन संस्थाओं में 104.81 लाख छात्र पढ़ रहे हैं। यह पिछले वर्ष के छात्रों की संख्या से अधिक है। निरपेक्ष रूप में तो उच्चतर शिक्षा में छात्रों की संख्या बढ़ी है, लेकिन उच्चतर शिक्षा के योग्य आबादी के हिस्से के तौर पर यह संख्या घटी है। भारत में उच्चतर शिक्षा के योग्य आबादी के महज 7 फीसदी हिस्से

को ही उच्च शिक्षा प्राप्त है जो विकसित देशों के मानकों के सामने बहुत ही कम है जहाँ यह आँकड़ा 25 फीसदी के ऊपर ही रहता है। उच्चतर शिक्षा पर सरकार के ख़र्च में भी लगातार कमी आयी है। 1970 के दशक में उच्चतर शिक्षा पर सरकार का ख़र्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1 प्रतिशत था जो 1990 के दशक में घटकर 0.35 प्रतिशत रह गया। दूसरी तरफ़ अब उच्चतर शिक्षा पर होने वाले ख़र्च का बड़ा हिस्सा छात्रों की जेब से ही वसूला जा रहा है। 1983 में, यानी नयी शिक्षा नीति के लागू होने से पहले, उच्चतर शिक्षा पर ख़र्च का 80 प्रतिशत हिस्सा सरकार दे रही थी और छात्रों से महज ट्यूशन शुल्क ही ले रही थी। 1999 में यह प्रतिशत घटकर 67 प्रतिशत रह गया। दूसरी तरफ़ छात्रों की जेब से 1988 में जितना वसूला जा रहा था वह 2004 तक 10.8 गुना बढ़ गया। साफ़ है कि सरकार लगातार शिक्षा को स्ववित्तपोषित बना रही है। यानी, सीधे शब्दों में कहा जाय तो शिक्षा को एक बिकाऊ माल बना रही है। जिसकी औक़ात हो वह शिक्षा ख़रीद ले! नतीजा यह हुआ है कि पिछले दो दशकों में उच्चतर शिक्षा तक निम्न और निम्न मध्यवर्गों की पहुँच लगातार घटती गयी है। विश्वविद्यालय कैम्पसों का पूरा वर्ग चरित्र भारी परिवर्तन से होकर गुज़रा है और यह प्रक्रिया अभी ख़त्म नहीं हुई है।

"...सरकार दोनों ही किस्म की शिक्षा में, यानी पारम्परिक विश्वविद्यालय आधारित उच्चतर शिक्षा और मेडिकल, इंजीनियरिंग और प्रबन्धन जैसी पेशेवर उच्चतर शिक्षा, लगातार निजीकरण कर रही है, लगातार उसे एक बाज़ारू माल बना रही है, और लगातार ऐसी स्थिति पैदा कर रही है कि निम्न मध्यवर्ग, आम मध्यवर्ग के लड़के-लड़कियाँ उच्चतर शिक्षा तक पहुँच ही न पायें।"

दूसरी तरफ़ इंजीनियरिंग और मेडिकल जैसे पेशेवर शिक्षा संस्थानों से भी सरकार ने लगातार अपने हाथ खींचे हैं। 1960 में इंजीनियरिंग की शिक्षा में सिर्फ़ 15 प्रतिशत सीटें प्राईवेट इंजीनियरिंग कॉलेजों में थीं। 2004 में यह आँकड़ा बढ़कर 86.4 प्रतिशत हो गया। मेडिकल शिक्षा में 1960 में सिर्फ़ 6.8 प्रतिशत सीटें ही प्राईवेट थीं जबकि यह 2004 में बढ़कर 40.9 प्रतिशत हो गयीं। प्रबन्धन संस्थानों में पहले ही निजी सीटों की संख्या कुल सीटों के 90 प्रतिशत है। **इन आँकड़ों से साफ़ है कि सरकार दोनों ही किस्म की शिक्षा में, यानी पारम्परिक विश्वविद्यालय आधारित उच्चतर शिक्षा और मेडिकल, इंजीनियरिंग और प्रबन्धन जैसी पेशेवर उच्चतर शिक्षा, लगातार निजीकरण कर रही है, लगातार उसे एक बाज़ारू माल बना रही है, और लगातार ऐसी स्थिति पैदा कर रही है कि निम्न मध्यवर्ग, आम मध्यवर्ग के लड़के-लड़कियाँ उच्चतर शिक्षा तक पहुँच ही न पायें।**

इसके पीछे मक़सद बिल्कुल साफ़ है। सरकार स्वयं ही यह कह रही है कि अब विकास रोज़गार विहीन विकास होगा और रोज़गार पैदा करना सरकार की ज़िम्मेदारी नहीं है। ऐसे में अगर आम आबादी के छात्र भारी संख्या में स्नातक और स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ लिए सड़क पर चप्पलें फटकाएँगे तो उनके दिलों में व्यवस्था के प्रति गुस्सा कहीं अधिक होगा और उनकी बग़ावती भावना व्यवस्था के लिए ख़तरनाक सिद्ध हो सकती है। इसलिए सबसे बेहतर होगा कि ऐसे छात्रों को विश्वविद्यालय कैम्पसों तक पहुँचने ही न दिया जाय। न वे उस मंज़िल तक पहुँचेंगे और न ही रोज़गार आदि के बारे में वैसे सपने पालेंगे। उन्हें पहले ही कुण्ठित कर दिया जाय तो किसी उथल-पुथल भरी स्थिति को पैदा होने से रोका जा सकता है। उनको भरमाने-फुसलाने-बहलाने के लिए बिड़ला-अम्बानी कमेटी ने एक नया शोशा उछाला। उन्होंने मूल्य आधारित शिक्षा की बात की। एन.सी.ई.आर.टी. के नेशनल फ्रेमवर्क फॉर करिकुलम नामक अपने दस्तावेज़ में इस कमेटी ने इस बात की सिफ़ारिश की कि प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर ही छात्रों को वर्ग और क्षमता के आधार पर वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिए और आगे की शिक्षा की दिशा इसी वर्गीकरण के आधार पर तैयार होनी चाहिए। यानी स्कूली शिक्षा के दौरान ही औक़ात के हिसाब से यह तय कर दिया जाना चाहिए कि कौन उच्चतर शिक्षा तक पहुँच सकता है। जो पहुँच सकते हैं, यानी जो बढ़ती फीसों को चुकाने की औक़ात रखते हैं वे कैम्पसों तक पहुँचेंगे और बाकी के लिए कमेटी ने तकनीकी शिक्षा की वकालत की। यानी बाकियों के लिए आई.टी.आई. और पॉलीटेक्निक। जो उनमें भी न पहुँच सकें वे दसवीं या बारहवीं के बाद देश की कुशल-अर्द्धकुशल मज़दूर आबादी में शामिल हो जायें और जो इतना भी न कर पायें वे देश की बेरोज़गारों की फौज में शामिल हो जायें, क्योंकि अम्बानी और बिड़ला को यह फौज भी चाहिए। अम्बानी-बिड़ला कमेटी ने विश्व बैंक की 2004 की रिपोर्ट के सुर में सुर मिलाते हुए कहा कि सरकार को उच्चतर शिक्षा से विनिवेश करके प्राथमिक शिक्षा में निवेश करना चाहिए क्योंकि यह सामाजिक विषमता को कम करेगा। सबसे अहम सवाल तो यह है कि शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत निवेश करने का वायदा करने वाली सरकार यह निवेश 3 से 4 प्रतिशत के बीच ही करती है। ऐसे में यदि शिक्षा में निवेश 6 प्रतिशत किया जाय तो प्राथमिक शिक्षा में निवेश उच्चतर शिक्षा की कीमत पर नहीं करना पड़ेगा। लेकिन यह उम्मीद करना ही बेकार है क्योंकि सरकार को उच्चतर शिक्षा को एक विशेषाधिकार बनाना है। यह तर्क भी सच्चाइयों से कहीं मेल नहीं खाता है कि उच्चतर शिक्षा के कारण प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा हो रही है। सच्चाई यह है कि शिक्षा पर कुल ख़र्च का सिर्फ़ 10 प्रतिशत ही उच्चतर शिक्षा पर ख़र्च होता है। 1980 के दशक के पूर्वार्द्ध में यह आँकड़ा 15 प्रतिशत था। तो उच्चतर शिक्षा पर तो सरकार वैसे ही कम ख़र्च कर रही है। अब इसे ख़र्च को नगण्य बनाने की तरफ़ कदम बढ़ाए जा रहे हैं ताकि आम घरों के लड़के-लड़कियों को कैम्पस पहुँचने से रोका जा सके।

एक और परिघटना जो उच्चतर शिक्षा जगत में घटित हो रही है वह है **शिक्षा का अनौपचारिकीकरण**। एक ओर तो नियमित छात्रों की संख्या में लगातार कटौती की जा रही है और वहीं दूसरी ओर पत्राचार, बाह्य शिक्षा आदि में सीटों को लगातार बढ़ाया जा रहा है। तमाम विश्वविद्यालयों के पत्राचार विभाग में छात्रों का दाखिला लगातार बढ़ा है। नौजवानों को बताया जाता है कि बी.ए. और एम.ए. से तो कुछ मिलता नहीं है, लेकिन अगर तुम पढ़ना ही चाहते हो तो पत्राचार में दाखिला ले लो, और साथ में कम्प्यूटर, हार्डवेयर आदि सीख लो। या सीख चुके हो तो नौकरी कर लो और साथ में पत्राचार से स्नातक या स्नातकोत्तर हो जाओ। यह रास्ता काफ़ी सुगम भी लगता है। देश के सबसे बड़े पत्राचार विश्वविद्यालय इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में छात्रों की बढ़ती संख्या से ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। 1987 में इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में महज 4,000 छात्र थे। 1998 में यह संख्या 1,60,000 पहुँच चुकी थी और फिलहाल यह 13,11,145 है। लेकिन साथ ही 2006 में इग्नू में बी.ए. में सिर्फ़ 5 प्रतिशत छात्र ही पास हो पाए। यानी, इसमें भी व्यवस्था और पाठ्यक्रम कुछ ऐसे बनाया गया है कि बेहद कम छात्र ही पास हो सकें। यानी लोगों को उच्चतर शिक्षा की हवा मिठाई! स्नातक छात्रों की संख्या में कोई ख़ास बढ़ोत्तरी भी नहीं और कोई कैम्पस खड़ा करने का झंझट भी नहीं!

लेकिन शिक्षा के इस "पत्राचारीकरण" में इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि छात्रों को एक जगह बड़ी संख्या में एकजुट होने से रोका जा रहा है। पत्राचार के छात्रों का कोई कैम्पस नहीं होता और न ही नियमित तौर पर वे किसी एक स्थान पर मिलते हैं। ऐसे में उनको गोलबन्द और संगठित किये जाने के रास्ते में एक बाधा खड़ी करने में सरकार सफल हो जाती है। जिस तरह उद्योगों के अनौपचारिकीकरण के द्वारा बड़ी कारखाना इकाइयों को तोड़कर छोटी-छोटी इकाइयाँ बनाई जा रही हैं उसी तरह छात्रों के भी नियमित कैम्पसों को ख़त्म करके पत्राचार शिक्षा का खेल खेला गया है। मज़दूर अब बड़ी संख्या में कारखानों में इकट्ठा नहीं होते और नतीजतन उन्हें यूनियनों में संगठित करके लड़ने की सम्भावना कम होती जा रही है। कारखाना-केन्द्रित आर्थिक संघर्षों का स्कोप कम से कम होता जा रहा है। एक दूसरे रूप में कैम्पस आधारित लड़ाइयों की ज़मीन भी तेज़ी से ख़त्म हो रही है। पत्राचार में पढ़ने वाले छात्रों की वर्ग चेतना भी एक जगह एकजुट न होने के कारण कुन्द होती जाती है।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, कैम्पसों तक अब आम घरों के युवाओं को पहुँचने से रोका जा रहा है। पिछले दो दशकों में बढ़ती फीसों और घटती सीटों के कारण उच्चतर शिक्षा तक आम मध्यवर्ग की पहुँच भी काफ़ी कम हुई है। दूसरी ओर, अगर कोई आम मध्यवर्ग का आदमी उतने पैसे ख़र्च करना भी चाहता है तो वह तमाम प्रतियागी परीक्षाओं के लिए अपने बच्चे को कोचिंग दिलाने पर, या किसी पेशेवर या वोकेशनल कोर्स में दाखिला दिलाने पर ख़र्च करता है। ऐसे में कैम्पस नवधनाढ्यों और नवकुलीनों का अड्डा बनता जा रहा है। पूरे कैम्पस का वर्ग चरित्र तेज़ी से बदल रहा है। ऐसा नहीं है कि आम मध्यवर्ग बिल्कुल ही कैम्पस नहीं पहुँच पा रहा है। शिक्षण आदि जैसे कुछ पेशे हैं जिनके लिए अभी भी पारम्परिक उच्चतर शिक्षा की ही आवश्यकता पड़ती है और ऐसे पेशों के लिए आम घरों के युवा अभी भी कैम्पस में दाखिले के लिए संघर्ष करते रहते हैं और उनमें से कुछ पहुँच भी जाते हैं। साथ ही प्रशासनिक सेवाओं के लिए भी स्नातक होना ज़रूरी होता है। लेकिन अब उसके लिए भी आम मध्यवर्ग के लिए विश्वविद्यालयों के दरवाज़े बन्द किये जा रहे हैं। उसके पूरी तरह बन्द होने से पहले जो कैम्पस में प्रवेश कर गया वो कर गया। लेकिन बहुत जल्दी ही एक ऐसी स्थिति पैदा होने जा रही है कि जब कैम्पसों में और ख़ास तौर पर दिल्ली विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, आदि जैसे कैम्पस में आम जनता अल्पसंख्यक की स्थिति में पहुँच जाएगी। अभी भी आम घरों से जाने वाले युवाओं की संख्या कोई बहुत ज़्यादा नहीं है। इस तरह से कैम्पस में आने वाले समय में वही आबादी पहुँच पाएगी जो उच्चतर शिक्षा की कीमत चुकाने की औक़ात रखेगी।

"लेकिन शिक्षा के इस "पत्राचारीकरण" में इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि छात्रों को एक जगह बड़ी संख्या में एकजुट होने से रोका जा रहा है। पत्राचार के छात्रों का कोई कैम्पस नहीं होता और न ही नियमित तौर पर वे किसी एक स्थान पर मिलते हैं। ऐसे में उनको गोलबन्द और संगठित किये जाने के रास्ते में एक बाधा खड़ी करने में सरकार सफल हो जाती है...एक दूसरे रूप में कैम्पस आधारित लड़ाइयों की ज़मीन भी तेज़ी से ख़त्म हो रही है। पत्राचार में पढ़ने वाले छात्रों की वर्ग चेतना भी एक जगह एकजुट न होने के कारण कुन्द होती जाती है।"

यही कारण है कैम्पस राजनीति के एम.एल.ए.-एम.पी. बनने के प्रशिक्षण केन्द्र बनने की ज़मीन और अच्छी तरह से तैयार हो गयी है। कैम्पस में जो वर्ग पहुँच रहा है उसकी राजनीति यही है। जो वर्ग क्रान्तिकारी राजनीति का एक मॉडल कैम्पस में खड़ा कर सकता था उसे कैम्पस में पहुँचने ही नहीं दिया जा रहा है। कैम्पस में लम्पट किस्म की छात्र राजनीति और गुण्डागर्दी बढ़ने का सबसे बड़ा कारण यही है—कैम्पसों को बदलता वर्ग चरित्र। नवधनाढ्यों और नवकुलीनों की जो आबादी कैम्पस में आ रही है उसका एक प्रमुख हिस्सा इस या उस चुनावी पार्टी के लग्गू-भग्गू के साथ जुड़कर संसद-विधानसभाओं में पहुँचने की तैयारी में लगेगा। इन छात्रों में तथाकथित वामपंथी और सामाजिक जनवादी शिक्षकों के प्रभाव में आकर बौद्धिक विलास करने वाला

एक हिस्सा भी होगा जो कैम्पस को एन.जी.ओ. की राजनीति का केन्द्र बनाएगा क्योंकि वर्ग चरित्र में आए भारी परिवर्तन के बावजूद कैम्पस में आम जनता के कुछ बेटे-बेटी पहुँचते रहेंगे और साथ ही धनिक वर्गों से आने वाले कुछ नौजवान भी अपने वर्ग को त्यागकर देश की आम जनता की लड़ाई में उनके साथ खड़े होंगे। ऐसे नौजवानों को आमूल-चूल परिवर्तन वाली क्रान्तिकारी राजनीति से जुड़ने से रोकने के लिए कुछ गरम-गरम और जनपक्षधर प्रतीत होने वाली दुकानें भी खोलनी ही पड़ेंगी। साथ ही ऐसे नौजवानों की वर्ग कमज़ोरियों को बढ़ावा देने वाली बातें कहते रहने के लिए एन.जी.ओ. राजनीति सबसे उपयुक्त होती है। यह कहती है कि समाज बदलना है तो एन.जी.ओ. में आओ, समाज परिवर्तन का समाज परिवर्तन भी हो जाएगा, जनता के आदमी भी कहाओगे और ठीक-ठाक वेतन भी पाओगे। इंक़लाबों का युग बीत गया; वह महाख्यानों का युग था। अब पैबन्दसाज़ी का युग है। वर्ग की बात करने का आजकल फैशन नहीं है; जेण्डर की बात करो, जाति की बात करो, एथ्नीसिटी की बात करो, राष्ट्रीयता की बात करो, भाषाई अस्मिता की बात करो, वगैरह। इनकी अस्मिताओं को अखण्डित रखो और इन खण्डों का जश्न मनाओ! वैसे तो एन.जी.ओ. राजनीति एक अलग चर्चा का विषय है, लेकिन यहाँ इतना कह देना ही काफ़ी है कि इसका असल मक़सद जनता के संघर्षों को सुधारवादी और अस्मितावादी राजनीति के गड्ढे में गिरा देना और वर्ग आधारित एकता कायम होने से रोकना है।

कैम्पसों में जनवादी स्पेस के सिंकुड़ते जाने की वजहें भी कैम्पस के वर्ग चरित्र में आने वाले परिवर्तन से जुड़ी हुई हैं। कैम्पसों में जनवाद उसमें मौजूद आंतरिक वर्ग अन्तरविरोधों के कारण पैदा होता है। कैम्पस में आने वाले विभिन्न वर्गों की नुमाइंदगी करने वाली राजनीतियों के बीच वर्चस्व के लिए संघर्ष ही इस जनवाद को पैदा करता है। लेकिन अगर कैम्पस में आम जनता के बीच से नौजवान पहुँचेंगे ही नहीं तो जाहिर है कि कैम्पस में पहुँचने वाले धनिक वर्गों के लोगों की राजनीति को चुनौती देने वाली कोई ताक़त संगठित नहीं हो पाएगी और चुनावी राजनीति का ही एकछत्र राज्य होगा। नतीजतन, जनवादी स्पेस कायम रखने की कोई मजबूरी नहीं होगी। यही कारण है कि पिछले दो दशकों के दौरान कैम्पसों में जनवादी स्पेस तेज़ी से कम हुआ है।

तो सरकार एक ही तीर से कई शिकार कर रही है। नियमित कैम्पसों से छात्रों की छँटाई की जा रही है। आम घरों के युवाओं को अब कैम्पस में पहुँचने नहीं दिया जा रहा है। और साथ ही लोगों का गुस्सा फूट न पड़े उसके लिए उनके हाथ में पत्राचार शिक्षा का लॉलीपॉप थमाया जा रहा है। इन दोनों के जरिये दरअसल कैम्पस को फिर से नये आन्दोलनों की ज़मीन बनने से रोका जा रहा है, ठीक उसी तरह जैसे कारखानों को संघर्षों की ज़मीन बनने से रोका जा रहा है। जो दो ताक़तें नये परिवर्तन के ज्वार को लाने में नेतृत्वकारी भूमिकाएँ निभाने वाली हैं उनको गोलबन्द और संगठित करने में व्यवस्था ने बेहद सोचे-समझे तरीक़े से नयी चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

"कैम्पसों में जनवादी स्पेस के सिंकुड़ते जाने की वजहें भी कैम्पस के वर्ग चरित्र में आने वाले परिवर्तन से जुड़ी हुई हैं। कैम्पसों में जनवाद उसमें मौजूद आंतरिक वर्ग अन्तरविरोधों के कारण पैदा होता है। कैम्पस में आने वाले विभिन्न वर्गों की नुमाइंदगी करने वाली राजनीतियों के बीच वर्चस्व के लिए संघर्ष ही इस जनवाद को पैदा करता है। लेकिन अगर कैम्पस में आम जनता के बीच से नौजवान पहुँचेंगे ही नहीं तो जाहिर है कि कैम्पस में पहुँचने वाले धनिक वर्गों के लोगों की राजनीति को चुनौती देने वाली कोई ताक़त संगठित नहीं हो पाएगी और चुनावी राजनीति का ही एकछत्र राज्य होगा। नतीजतन, जनवादी स्पेस कायम रखने की कोई मजबूरी नहीं होगी। यही कारण है कि पिछले दो दशकों के दौरान कैम्पसों में जनवादी स्पेस तेज़ी से कम हुआ है।"

लेकिन यह समय इन चुनौतियों के सामने घुटने टेक देने और नाउम्मीद हो जाने का नहीं है। हमें अपनी सचेतनता का इस्तेमाल करके नकारात्मक को सकारात्मक में बदलना सीखना होगा। यह सच है कि कैम्पस में अलग से किसी छात्र आन्दोलन की ज़मीन ख़त्म होती जा रही है। यह सच है कि कैम्पस का वर्ग चरित्र गुणात्मक रूप से बदला है। यह सच है कि अब आम मध्यवर्ग के युवा भी कैम्पस मुश्किल से ही पहुँच पा रहे हैं। यह भी सच है कि शिक्षा के अनौपचारिकीकरण के कारण छात्रों को एक जगह बड़ी सेख्या में एकजुट होने से रोककर सरकार छात्रों के बीच एक वर्ग एकजुटता की भावना पैदा होने से रोकने में तात्कालिक रूप से सफल हो गयी है। लेकिन इन सब से निराश होने की बजाय इन नकारात्मकों को सकारात्मकों में तब्दील करने के बारे में सोचा जाना चाहिए।

मज़दूरों के बीच भी संगठन का काम मुश्किल हो गया है। क्योंकि उन्हें भी अब एक जगह बड़ी संख्या में एकजुट नहीं होने दिया जा रहा है। लेकिन इसका सीधा जवाब यह है कि मज़दूरों को संगठित करने के लिए अब कारखानों से बस्तियों की ओर चला जाय। और फिर बस्तियों से कारखानों की ओर आना होगा। कारखाना केन्द्रित आर्थिक संघर्षों का एक नकारात्मक यह होता था कि यह मज़दूरों की निगाह में सिर्फ़ एक मालिक को दुश्मन बनाता था और मज़दूरों की बस्तियों में राजनीतिक माँगों को लेकर होने वाला संघर्ष किसी एक मालिक नहीं बल्कि पूरे मालिक वर्ग और व्यवस्था को कठघरे में खड़ा कर देता है। तो मज़दूरों के बीच कामों की मुश्किलों के नकारात्मक को ठोस

(पेज 30 पर जारी)

मोहम्मद यूनुस को नोबेल पुरस्कार

ग़रीबी का न्यापार और उसका पुरस्कार

● अभिनव

अभी हाल ही में बंगलादेश के बैंकर डा. मोहम्मद यूनुस और उनके बैंक को शांति का नोबेल पुरस्कार (अर्थशास्त्र का नोबेल क्यों नहीं!!??) दिया गया। इस पर तीसरी दुनिया के देशों के बुद्धिजीवियों ने काफ़ी खुशियाँ मनाईं। यह भी कहा गया कि बंगलादेश के किसी व्यक्ति को नोबेल पुरस्कार मिलना तीसरी दुनिया के देशों के लिए गर्व की बात है। लेकिन सोचने की बात यह है कि यह नोबेल पुरस्कार मोहम्मद यूनुस को क्यों दिया गया? आख़िर ये "सूक्ष्म ऋण" है क्या? ग़रीबी हटाने में मोहम्मद यूनुस का योगदान क्या है और ग़रीबी क्या वाक़ई कम हुई है? "सूक्ष्म ऋण" और ग़रीबी उन्मूलन में विश्व बैंक और आई.एम.एफ. की क्या दिलचस्पी है?

इन सवालों का जवाब जानने के लिए संक्षेप में बंगलादेश की आर्थिक स्थिति को जान लेना ज़रूरी है। बंगलादेश की आबादी करीब 14 करोड़ है जो बेहद ख़राब जीवन स्थितियों मे जीती है। एक हालिया अध्ययन बताता है कि 1983-84 में पुरुष खेतिहर मज़दूरों के लिए वास्तविक मज़दूरी 20 टका प्रतिदिन हुआ करती थी। 1991 में यह मात्र 4 टका बढ़कर 24 टका प्रतिदिन हुई और 1996 में यह एक टका घटकर 23 टका रह गयी। 2003 में यह बढ़कर 28 टका प्रतिदिन हुई। यानी 19 वर्षों में 8 टका प्रतिदिन की वृद्धि! यही अध्ययन बताता है कि आय असमानता 1990 के दशक में लगातार बढ़ती गयी है। तमाम रिपोर्टें बताती हैं कि बंगलादेश ने 20वीं सदी के आखिरी दशक से विचारणीय आर्थिक विस्तार और प्रगति की है। लेकिन इस पूरे दौर में आय असमानता लगभग दोगुनी हो गयी है। गाँवों में पूँजी के प्रवेश के साथ ही छोटी किसानी बेहद तेज़ी से उजड़ी है और तेज़ी से शहरों की ओर गयी है। लेकिन भारी पैमाने पर होने वाले इस विस्थापन ने बड़ी समस्याएँ पैदा कर दी हैं। बंगलादेश के पास अभी उद्योगों और विशेषकर, अवरचनागत और भारी उद्योगों का वह ढाँचा नहीं है जो इस भारी आबादी को औद्योगिक केन्द्रों और शहरों में खपा सके। शहरीकरण की रफ़्तार भी धीरे-धीरे बढ़ रही है लेकिन अभी उसमें भी इस विस्थापित आबादी को खपा पाने की ताक़त नहीं है।

नतीजतन, शहरों में सामाजिक असन्तोष बढ़ा है और अतिरिक्त आबादी को सम्भाल पाने में सरकार को काफ़ी दिक्कतें पेश आ रही हैं।

दूसरी तरफ़ यह समस्या सिर्फ़ आर्थिक ही नहीं है। बंगलादेश लगातार राजनीतिक अस्थिरता से होकर गुज़रा है। इसका शासक वर्ग अपने उदय के समय से ही संकट का शिकार रहा है। सत्ता के सभी प्रतिष्ठानों में भ्रष्टाचार नंगे रूप में राज कर रहा है। सरकार के वे सभी अंग जो काफ़ी प्रतिष्ठित माने जाते हैं, जनता के बीच अपनी प्रतिष्ठा खो चुके हैं। शासन के तमाम उपकरण लोगों के बीच परिहास का विषय हैं। यहाँ तक कि न्यायपालिका में भी भ्रष्टाचार के व्याप्त होने की ख़बरें मीडिया तक में छपीं। राजनीति पर लम्पट तत्वों, व्यापारी-कम-राजनीतिज्ञों का कब्ज़ा एकदम प्रत्यक्ष हो गया है। कुल मिलाकर सत्ता और शासन ने जनता के बीच अपना विश्वास खो दिया है।

इन दोनों, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के चलते लोगों का गुस्सा अब सड़कों पर स्वतःस्फूर्त ढंग से फूटने लगा है। सड़कों पर होने वाले विरोध-प्रदर्शन अक्सर हिंस्र हो जाते हैं। ये विरोध-प्रदर्शन दिखने में गैर-राजनीतिक लगते हैं लेकिन यह सतह की सच्चाई है। इन सभी संघर्षों के दौरान ही लोगों की राजनीतिक चेतना में काफ़ी तब्दीली आती है। कभी-कभी तो ये स्वतःस्फूर्त प्रदर्शन इतने बड़े हो जाते हैं जितने कि चुनावी राजनीतिक पार्टियाँ भी नहीं कर पाती हैं। अधिकांश मामलों में इन संघर्षों में लोग किसी पूँजीवादी पार्टी की शरण की तलाश में नहीं रहते हैं बल्कि अपने संघर्ष के औज़ार खुद ही बनाते हैं। निस्सन्देह, ये संघर्ष जब-तब स्वयंस्फूर्त ढंग से होते हैं और ख़त्म हो जाते हैं। लेकिन शासक वर्ग भी इतिहास के सबक के जरिये यह जानता है कि ऐसे प्रदर्शन ही जनता की राजनीतिक चेतना का स्तरोन्नयन करते हैं और किसी क्रान्तिकारी अगुआ शक्ति को भी जन्म दे देते हैं। ऐसे में ये संघर्ष बिखरे और स्वतःस्फूर्त न होकर सचेतन और एकजुट हो जाते हैं। ऐसे में स्थिति काफ़ी विस्फोटक और ख़तरनाक हो सकती है। बंगलादेश एक छोटा देश है लेकिन उसकी जनसंख्या अच्छी-ख़ासी है। उत्पादक शक्तियों का विकास भारत जैसा नहीं है लेकिन बंगलादेश नेपाल जैसी स्थिति में भी नहीं है। ऐसे देश में कोई आमूल परिवर्तन विश्व पूँजीवाद के लिए ख़तरनाक साबित हो सकता है।

इसके अतिरिक्त बंगलादेश लूट और शोषण की सम्भावनाओं से युक्त एक पिछड़ा देश है। इस पर वित्तीय पूँजी की नज़र टिकी हुई है। तीसरी दुनिया के अपेक्षाकृत विकसित उत्पादक शक्तियों वाले देश का सत्ताधारी बुर्जुआ वर्ग अपने आपको

'एसर्ट' कर रहा है और बैंक-फण्ड-डब्ल्यू.टी.ओ. की नीतियों को अपनी ज़रूरतों के अनुसार लागू करने के लिए जद्दोजहद करता रहता है। यह साम्राज्यवादियों का जूनियर पार्टनर तो है, लेकिन उनके लिए सिरदर्द भी पैदा करता रहता है। हद से अधिक परेशान होने पर साम्राज्यवादी देश इन देशों के शासक पूँजीपति वर्ग की बाँह भी मरोड़ते हैं लेकिन ऐसा वे हमेशा नहीं कर पाते क्योंकि विश्व साम्राज्यवाद भी कई खेमों बँटा हुआ है और ऐसे में इन देशों के पूँजीपति वर्ग के सामने कई 'बार्गेनिंग ऑप्शंस' मौजूद होते हैं। ऐसे देशों में भारत भी शामिल है जिसका पूँजीपति वर्ग अपनी बढ़ती शक्तिमत्ता के अनुसार विश्व स्तर पर अधिशेष विनियोजन में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए मिनमिनाता रहता है और यह मिनमिनाहट धीरे-धीरे तेज़ हो रही है। ऐसे में विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन तीसरी दुनिया में अब ऐसे और देश नहीं चाहते जिसका पूँजीपति वर्ग अपने आपको इस हद तक एसर्ट कर सके। इसलिए साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी बंगलादेश जैसे देशों में भी शोषण का अपना ढाँचा खड़ा करना चाहती है। लेकिन बंगलादेश में दिक्कत यह है कि ऐसा औद्योगिक ढाँचा नहीं है जिसका इस्तेमाल करके यह वित्तीय पूँजी यहाँ के सस्ते श्रम को निचोड़ सके। इसलिए बंगलादेश जैसे देशों में शोषण की कोई नयी प्रणाली ईजाद करने की आवश्यकता थी।

तो गाँव से लोग उजड़कर शहरों की तरफ़ पलायन कर रहे हैं; शहर इस आबादी को खपाने की कूव्वत नहीं रखता; गाँव के छोटे और ग़रीब किसान सूदखोरों का आसान शिकार बन रहे हैं; शहर और गाँव, दोनों ही जगह स्थितियाँ विस्फोटक। दूसरी तरफ़, वित्तीय पूँजी की बंगलादेश पर ललचाई निगाहें लेकिन लूटने के लिए कोई औज़ार नहीं।

ऐसे में पूँजीपति वर्ग के तारणहार मोहम्मद यूनुस का अवतरण होता है। ग्रामीण बैंक इन सभी समस्याओं के हल का नुस्खा सुझाता है। मोहम्मद यूनुस ने सुझाया और साबित भी किया कि विश्व बैंक के सूक्ष्म ऋण के जरिये बंगलादेश की ग़रीब ग्रामीण जनता को लूटा भी जा सकता है और उसे गाँव में रोका भी जा सकता है। नतीजतन, शहरों में गाँव के विस्थापितों के भर जाने के कारण शहरी जनता में जो असन्तोष है वह भी थमेगा और गाँवों में सूदखोरों के नंगे और भोंड़े शोषण की जगह ग्रामीण बैंक के जरिये वित्तीय पूँजी का "सभ्य" लेकिन उतना ही मुनाफ़ा देने वाला शोषण ले लेगा। सामाजिक अशांति का ख़तरा बढ़ाए बग़ैर शोषण की रफ्तार बढ़ाने का यह नुस्खा विश्व बैंक और आई. एम.एफ. को काफ़ी भाया और ग्रामीण बैंक की गाड़ी चल निकली। अब ज़रा यह देखा जाय कि यह ग्रामीण बैंक करता क्या है और कैसे करता है?

ग्रामीण बैंक के मंच पर पदार्पण के साथ ही लघु ऋण और सूक्ष्म ऋण वाली अन्य सभी एजेंसियाँ उससे आकर मिल गयीं। ग्रामीण बंगलादेश एक विशाल ऋण बाज़ार में तब्दील होने लगा। गाँव के ग़रीबों को सूक्ष्म ऋण के जरिये मालिकाने का भ्रम दिया गया। साथ ही उन्हें अधिशेष निचोड़ने की एक प्रणाली में डाल दिया गया। यानी एक तीर से दो भी नहीं, कई शिकार! यह कैसे होता है यह देखना काफ़ी दिलचस्प होगा।

ज़्यादातर लोग समझते हैं कि ग्रामीण बैंक कम ब्याज़ पर ऋण देता है। यह एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी है। ग्रामीण बैंक 30 प्रतिशत ब्याज़ दर पर कर्ज़ देता है जिसे 52 किश्तों में चुकाना होता है। यह ऋण आम तौर पर "ग़रीबों में भी सबसे ग़रीब" नहीं ले पाता है जैसा कि प्रभुत्वशाली पूँजीवादी मीडिया ने प्रचारित किया है। अगर कम और आसान किश्तों पर ऋण देना पुरस्कार देने का कारण है तो यह पुरस्कार मास्टर कार्ड्स और वीज़ा कार्ड्स जैसी कम्पनियों को मिलना चाहिए जो अपने ग्राहकों से ऋण पर 18-20 प्रतिशत ही ब्याज़ लेती हैं। जबकि यह ऋण न लौटा पाने पर क्रेडिट कार्ड धारकों को आम तौर पर कुछ नहीं होता है। जबकि ग्रामीण बैंक से कर्ज़ लेने वाला छोटा या निम्न मध्यम किसान ऋण वापस करता ही करता है भले ही यह काम उसे अपना पेट काट-काटकर और अपने बर्तन-भांडे बेचकर ही क्यों न करना पड़े। वह पुलिस, कोर्ट-कचहरी आदि से भयाक्रान्त रहता है। उसे शहरी मध्य वर्ग जैसी तसल्ली नहीं रहती है। यह वर्ग आम तौर पर बैंक का कर्ज़ चुकाने के लिए सूदखोरों से कर्ज़ लेने को मजबूर होता है। चार-पाँच वर्षों तक दिवालियेपन की हालत में रहने का बाद यह वर्ग एक बार फिर सूक्ष्म ऋण के जरिये निचोड़ने लायक बन जाता है। ऋण लेने वाले ग़रीब इससे पहले कि शहर पलायन के बारे में सोचें, ऋण के जरिये फिर से गाँव में रोक लिये जाते हैं। उन्हें झूठी आशाएँ बंधाकर गाँव में रोके रखा जाता है। अपनी इच्छा से वैसे भी वे गाँव नहीं छोड़ना चाहते हैं और आम तौर पर मजबूरी में ही गाँव से उजड़कर शहर जाते हैं। ऐसे में वे भी आसानी से इस भ्रम की जाल में फँस जाते हैं और वित्तीय पूँजी के शिकार बनते रहते हैं। इस शिकार को साम्राज्यवादी पूँजी पूरी तरह मारती नहीं है बल्कि अधमरा करके छोड़ देती है और उसके फिर निचोड़े जाने की हालत में आने तक इंतज़ार करती है और फिर से अधमरा कर देती है।

गाँव में छोटी-ग़रीब किसानी को अधमरेपन के हालात में बनाए रखा जाता है। यह काम उनसे ब्याज़ के रूप में अधिशेष निचोड़कर किया जाता है। इसके साथ ही उन्हें गाँव में रोके भी रखा जाता है। यह गाँव की आबादी के सर्वहाराकरण को रोकता है। छोटी जोत की किसानी वैसे भी इन किसानों को नर्क जैसा ही जीवन देती है लेकिन जमीन के साथ आदिम जुड़ाव और ग्रामीण बैंक का सूक्ष्म ऋण इन्हें सर्वहाराकृत होकर शहर पलायित नहीं होने देता। नतीजतन, यह वर्ग जो दरअसल अर्द्धसर्वहारा और उजरती गुलाम की स्थिति में ही जी रहा होता है, मालिक किसान होने के भ्रम में जीता रहता है और उसकी वर्ग चेतना कुन्द ही बनी रह जाती है। लुटता वह सर्वहारा वर्ग की तरह ही है, लेकिन संगठित उसकी तरह नहीं हो पाता। यही काम तमाम एन.जी.ओ. सुधारवादी, संशोधनवादी पार्टियाँ और पर्यावरणवादी आदि कर रहे हैं। यूनुस ने इस काम में एक और फ़ायदा जोड़ दिया है—मुनाफ़े का फ़ायदा! ऋण लेने वाला एक उजरती मज़दूर

(पेज 36 पर जारी)

पश्चिमी स्वप्नलोक की हक़ीक़त

• शिशिर

पूँजीवादी व्यवस्था और उसका पूँजीवादी जनवाद हमेशा कुछ ऐसी शख़्सियतों को जन्म देता है जो उसकी ही आलोचना करे। कोई भी व्यवस्था ऐसे ही काम करती है। वह अपने आपको बेदाग़ नहीं दिखाती। और वह चाहती है कि उसकी दाग़ों की आलोचना कोई व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर रहकर करे। यदि ऐसा कोई नहीं करता तो वह स्वयं ऐसे लोगों को नियुक्त करती है जो उसकी आलोचना करें। यह जनवाद के भ्रम को बरक़रार रखने में काफ़ी कारगर साबित होता है। कई बार ऐसे लोग व्यवस्था के ही टुकड़खोर होते हैं जो व्यवस्था की आलोचना करते हुए कोई विकल्प नहीं सुझाते और कहते हैं कि इसी व्यवस्था में सुधार की गुंजाइश है। कई बार ऐसा भी होता है जब ऐसे आलोचक व्यवस्था के दलाल नहीं बल्कि स्वतंत्र और ईमानदार बुद्धिजीवी होते हैं जिनके पास कोई दृष्टि नहीं होती और न ही कोई विकल्प होता है।

ऐसे ही एक आलोचक हैं फ्रांस के फ्रांकोआ दि क्लोसेस। आज से करीब पच्चीस वर्ष पहले क्लोसेस की एक किताब आई–*तूज्यूर प्लस!* (हमेशा ज़्यादा!) इस किताब ने प्रकाशन के इतिहास में कई नये कीर्तिमान कायम कर दिये। इस किताब की 15 लाख प्रतियाँ बिकीं। किसी भी गैर-कथात्मक विषय की किताब के लिए यह संख्या आश्चर्यजनक थी। यह किताब फ्रांस के सामाजिक हालात का ब्योरा सामने रखते हुए यह बताती है कि जिस फ्रांस ने स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के नारे को जन्म दिया था, आज उसी देश में ये शब्द खोखले साबित हो रहे हैं और उपहास का विषय बन रहे हैं। अपनी तीखी शैली में क्लोसेस ने बताया कि फ्रांस में मेहनतक़श ग़रीबों की क्या स्थिति है और मुट्ठीभर कुलीनों की क्या स्थिति है।

इसके करीब पच्चीस वर्ष बाद अब क्लोसेस की नयी किताब आई है जो उसी किताब का अगला भाग है–*प्लस एनकोर! (और ज़्यादा!)* यह किताब भी प्रतिदिन 8000 प्रति की तादाद में बिक रही है। इस बार क्लोसेस ने समकालीन फ्रांसीसी समाज की कलई खोल दी है। क्लोसेस बताते हैं कि फ्रांस आज बढ़ते अपराध, बढ़ती बेरोज़गारी, धीमे विकास, धार्मिक कट्टरपंथ, महंगी होती स्वास्थ्य सेवाओं की समस्या, अपर्याप्त पेंशन, नस्लवाद, प्रवासियों के दयनीय हालात, और शहरी ग़रीबी से जूझ रहा है। मन्दी की स्थिति भयंकर है जो मुद्रास्फीति और बेरोज़गारी को जन्म दे रही है। फ्रांस का शासक वर्ग स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के जिस नारे की बदौलत जनता के विश्वास को कायम रखता आया है वह नारा फ्रांस की बहुसंख्यक जनता को अब एक पाखण्ड लगता है। क्लोसेस स्वयं बताते हैं कि फ्रांस न सिर्फ़ अमीर, मध्यवर्ग और ग़रीबों में तीखे तौर पर बँट चुका है बल्कि एक ताकतवर हित समूह पैदा हो गये हैं जो ऐसे बोनस और विशेषाधिकार हासिल कर चुके हैं जिसके आँकड़े किसी भी सरकारी काग़ज़ात में नहीं मिलते। क्लोसेस पूँजीवादी राष्ट्रवाद की पोल खोलते हुए बतलाते हैं कि जो शासक वर्ग राष्ट्रवाद की दुहाई दे-देकर जनता को संकट के मौकों पर गोलबन्द करता है वह राष्ट्र के हितों के सबसे ख़िलाफ़ है। वह अपने हितों के लिए राष्ट्रीय भलाई को दाँव पर लगाने से कभी नहीं चूकता। आज के समय में इस शासक वर्ग ने फ्रांसीसी समाज पर अपनी जकड़बन्दी और मज़बूत कर ली है। क्लोसेस द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समृद्धि के दौर से नवउदारवाद के दौर की दरिद्रता तक की कहानी के पीछे का मर्म बताते हुए कहते हैं कि यह संक्रमण सामाजिक भलाई पर निजी हितों की विजय के कारण हुआ है। दरअसल, यह क्लोसेस का 'कल्याणकारी राज्य' के प्रति नॉस्टैल्जिया ही है जिसके कारण वे नवउदारवादी नीतियों को कोसते हैं और वेल्फेयर स्टेट के दौर की समृद्धि को याद करते हैं। वह नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर के पूँजीवाद की तीखी और आँख खोल देने वाली आलोचना करते हैं और उसे अलफ़ नंगा करके छोड़ देते हैं लेकिन इसके विकल्प के तौर पर वह जिस दौर को याद करते हैं वह है द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद का कींसियाई नुस्खे पर बना कल्याणकारी राज्य। क्लोसेस यह नहीं समझ पाते कि वह दौर अब वापिस नहीं लौट सकता। पूँजीवाद कल्याणकारी राज्य को अब अफ़ोर्ड नहीं कर सकता। पूँजी की नैसर्गिक गति और मुनाफ़े की हवस और राजसत्ता पर पूँजीपति वर्ग के कब्ज़े के कारण हमेशा ही सार्वजनिक हितों का क्रमिक परित्याग होता है और खुली लूट वाले नंगे, फासीवादी पूँजीवाद की ओर संक्रमण होता है।

क्लोसेस कहते हैं कि जर्मन कब्ज़े के ख़िलाफ़ लड़ते हुए उभरा फ्रांस एक समानता और न्याय प्रिय फ्रांस था और आज यह स्थिति एकदम बदल गयी है। पूँजीवाद के संकट के दौर में फासीवाद का उदय हुआ था। 1930 के दशक में मन्दी और अतिउत्पादन के कारण पैदा हुई तबाही और अराजकता और एकाधिकारीकरण ने पूँजीपति वर्ग को लोकतंत्र और जनवाद का मुखौटा फेंककर फासीवादी मुखौटा पहनने पर विवश कर दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फासीवाद का अस्त होता है और कल्याणकारी पूँजीवादी राजसत्ताओं का उदय होता है। यह पुनर्निर्माण का दौर था। लेकिन विश्वयुद्ध से हुए विनाश की भरपाई होते ही विश्व पूँजीवाद एक बार फिर अतिउत्पादन और मन्दी की चपेट में आने लगा और पूरे विश्व में एक बार फिर जनवादी मूल्यों का ह्रास शुरू हुआ और भूमण्डलीकरण के दौर के जुआरी और सट्टेबाज़ पूँजीवाद के दौर में तो यह प्रक्रिया और भी तेज़ हो गयी है। क्लोसेस यह नहीं समझ पाते कि यह पूँजीवाद की स्वाभाविक गति है और सवाल इसके सुधार नहीं बल्कि इसके उन्मूलन का है।

ख़ैर, फिर भी क्लासेस यह तो दिखला ही देते हैं कि पश्चिमी दुनिया के प्रोजेक्टेड वैभव के पीछे भी एक अन्धेरी दुनिया है। जिस भूमण्डलीकृत उन्नत नवउदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था का सपना हमें जन्नत के सपने के तौर पर दिखाया जाता है, उसकी असलियत को क्लोसेस उघाड़कर रख देते हैं। आज फ्रांस की युवा आबादी का 13 प्रतिशत हिस्सा ग़रीब माना जाता है। फ्रांस में प्रवासियों को अक्सर नस्लवादी हिंसा का शिकार होना पड़ता है। अक्सर ही भयंकर बेरोज़गारी से त्रस्त नौजवान सड़कों पर उतर पड़ते हैं। शिक्षा, चिकित्सा आदि आम आदमी की पहुँच से बाहर होती जा रही है। लेकिन कुल मिलाकर यह पूँजीवाद की एक पूँजीवादी आलोचना है जो किसी सन्त पूँजीवाद की अभिलाषा करती है।

एक बात बिल्कुल साफ़ है। शिखर पर बैठे देशों में भी वर्ग विभेदीकरण और ध्रुवीकरण बेहद तीखा हो चुका है। साम्राज्यवादी देशों में भी स्थितियाँ काफ़ी तनावपूर्ण बन रही हैं। ऐसे में कोई ताज्जुब नहीं होगा यदि इन देशों में भी स्वतःस्फूर्त युवा और मज़दूर आन्दोलनों का सैलाब सड़कों पर उतरना शुरू कर दे, जैसा कि हाल ही में फ्रांस की सड़कों पर नौजवानों के उतरने और विलपाँ-शिराक सरकार को रोज़गार कानून संशोधन को वापस लेने पर मजबूर होने में सामने आया। जाहिर है, कि ऐसे आन्दोलनों से ही इंक़लाब नहीं हो सकता है लेकिन यह साम्राज्यवादी शासक वर्ग के लिए काफ़ी सिरदर्द पैदा करेगा और उसे कमज़ोर करेगा और विश्व की जनता की साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी लड़ाई में भारी योगदान करेगा।

शिक्षा जगत में

उन्हें प्रेमचन्द और पाश ख़तरनाक लगते हैं...

● तपिश

एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकों पर विवाद एक बार फिर उठ खड़ा हुआ है। इस बार विवाद के केन्द्र में कक्षा ग्यारह की साहित्य की पुस्तकें हैं। पिछली बार पाठ्यपुस्तकों पर उठा विवाद पाठकों को यादा होगा। पूरा मीडिया और संचार तंत्र इन विवादों को 'विभिन्न पार्टियों की आपसी दलगत राजनीति' का परिणाम कह कर प्रचारित-प्रसारित कर रहा है। लेकिन यह एक सतही बात है और असल में यह सच्चाई पर पर पर्दा डालने का काम करती है। इस ख़तरे को देखते हुए कि पाठक कहीं इस लेख को एन.सी.ई.आर.टी. के पक्ष में लिखा गया न समझ लें, मैं यह पहले ही स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि ऐसा नहीं है।

असल बात तो यह है कि पूँजीवादी राज्य की कोई भी संस्था कभी भी मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत साहित्य का प्रचार कर ही नहीं सकती या सिर्फ़ उस हद तक कर सकती है जिस हद तक उसके लिए फ़ायदेमन्द हो। और इस बार ठीक यही हुआ। लेकिन विवाद के विस्तार में जाने से पहले प्रसंगांतर करते हुए मैं आपका ध्यान एक परिधिगत प्रतीत होने वाले मुद्दे की ओर खींचना चाहूँगा।

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज़ में 'प्रोपेगैण्डा' शब्द का उल्लेख करते हुए आधुनिक राजनीतिविज्ञान और संचार तंत्र के संस्थापक कहे जाने वाले श्री हैरॉल्ड लॉसवेल ने बड़ी निर्लज्ज साफ़गोई के साथ लिखा है कि "...हमारे पास ऐसे साधन हैं जिनसे जनता के दिमाग़ को कुशलतापूर्वक अनुशासित किया जा सकता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे कि फौज अपने जवानों के शरीर को केवल हुक्म बजाने और जंग लड़ने के लिए ढालती है...उनपर उनके कार्यस्थल पर ही लगाम लगाने की ज़रूरत है। उन्हें राजनीति से दूर रखे जाने की ज़रूरत है।" वे इस बात को नहीं समझ सकते कि मुट्ठी भर मालदारों को बहुसँख्य आबादी से बचाना ज़रूरी है।

उपरोक्त "सच्चाई" की रोशनी में आइये अब देखें कि विवाद के केन्द्र में कौन सी रचनाएँ थीं और हमारे सत्ताधारियों को यह क्यों ख़तरनाक लगीं।

प्रेमचंद की कहानी 'दूध का दाम' के बारे में कहा गया कि इससे बच्चों के दिमाग़ में घृणा पैदा होगी। इस कहानी में एक दलित स्त्री भूंगी गाँव के ज़मींदार बाबू महेशनाथ के बच्चे को अपना दूध पिलाकर बड़ा करती है। इस प्रतीक के जरिये प्रेमचन्द ने बताया है कि किस प्रकार शोषित वर्ग अपना दूध, खून और श्रम देकर शोषकों को पालता है। भूंगी ज़मींदार का परनाला साफ़ करते वक्त मारी जाती है और मंगल अनाथ रह जाता है। अमानवीयता और पाखण्ड की हद तब होती है जब मंगल बाबू साहब के बेटे को छू लेता है और जुर्म के लिए उसे घर से भगा दिया जाता है। प्रेमचन्द की यह कहानी शोषण की व्यवस्था के विरुद्ध घृणा पैदा करने वाली एक सशक्त कहानी है। आखिर हमारे राजनेता क्यों चाहते हैं कि किशोर शोषण को घृणा की दृष्टि से न देखें?

प्रसिद्ध पंजाबी कवि अवतार सिंह पाश की कविता 'सबसे ख़तरनाक' को राष्ट्रवाद के लिए ख़तरनाक बताया गया है! पाश की यह कविता कुछ इस प्रकार है–

सबसे ख़तरनाक होता है/मुर्दा शांति से भर जाना/न होना तड़प का सब सहन कर जाना/घर से निकलना काम पर/और काम से लौटकर घर जाना/सबसे ख़तरनाक होता है/हमारे सपनों का मर जाना...

हमारे सांसदों की आपत्ति ठीक ही है! यदि लोग वाकई सपने देखने लगे तब? अगर वे किसी ऐसी दुनिया के सपने देखने लगे जिसमें बराबरी हो, लूट न हो, अन्याय न हो, अमन और खुशहाली हो, तब? तब तो गड़बड़ हो जाएगी! ऐसा साहित्य तो वाकई सत्ता और व्यवस्था के लिए ख़तरनाक साबित होगा!

यूँ तो इस फेहरिस्त में और बहुत सी रचनाएँ शामिल हैं लेकिन पूरे विवाद को इन दो प्रतिनिधि उदाहरणों से समझा जा सकता है। सबसे मज़ेदार बात यह थी, और इस बात पर उन लोगों को विशेष ध्यान देना चाहिए जो एक संसदीय पार्टी को दूसरी से बेहतर बताते हैं, कि भाजपा, कांग्रेस, संसदीय वामपंथी, समाजवादी सभी एक सुर में इन जनपक्षधर रचनाओं को किशोरों को पढ़ाया जाना 'ख़तरनाक' बता रहे थे! यह तथ्य ही बता देता है कि ये सब चुनावबाज़ नौटंकीबाज़ एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं जिन्हें सहज न्यायबोध और अन्याय के प्रति नफ़रत पैदा करने वाली चीज़ें ख़तरनाक लगती हैं।

सद्दाम को फाँसी : बर्बरों का न्याय

• प्रसेन

मुकदमे का एक लम्बा स्वाँग रचने के बाद अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने अपने "न्याय" को अमली जामा पहनाते हुए 30 दिसम्बर को सद्दाम हुसैन को फाँसी दे दी। सद्दाम हुसैन पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने कुर्दों तथा शिया मुसलमानों का नरसंहार कराया था। इसमें कोई शक़ नहीं है कि सद्दाम ने बा'थ पार्टी विरोधी शियाओं और कुर्दों का क़त्लेआम करवाया था और साथ ही अरब विश्व में कम्युनिस्टों के सबसे बड़े नरसंहार में से एक को सद्दाम ने ही अंजाम दिया था, हालाँकि पश्चिमी मीडिया इसकी चर्चा कम ही करता है। लेकिन यह भी उतना ही बड़ा सच है कि जब सद्दाम हुसैन ने इन काले कारनामों को अंजाम दिया था तब अमेरिकी साम्राज्यवादियों का हाथ उनकी पीठ पर था। वैसे अगर इस तर्क पर चला जाय तो जिस आधार पर कुछ हज़ार लोगों को मौत के घाट उतारने के आरोप में सद्दाम को फाँसी की सज़ा दी गयी तो दसियों लाख इराक़ियों के नरसंहार के लिए ज़िम्मेदार जार्ज बुश जूनियर और उसके बाप को कई बार फाँसी के फंदे से झुलाना चाहिए। जब इराक़ और ईरान के बीच युद्ध चला था तो सद्दाम की सत्ता को अमेरिका का पूरा समर्थन प्राप्त था। उस युद्ध में ईरान से अपनी दुश्मनी निकालने के लिए अमेरिका ने इराक़ को हर किस्म का समर्थन दिया था।

यह भी एक ग़ौर करने वाली बात है कि सही मायनों में सद्दाम हुसैन अरब विश्व के चन्द धर्मनिरपेक्ष शासकों में से एक था। शियाओं और कुर्दों की हत्या उसने इसलिए नहीं करवायी थी कि वह सुन्नी था। खुद बाथ पार्टी की सरकार में बड़ी संख्या में शिया मंत्री और अधिकारी थे। सद्दाम ने एक तानाशाह की तरह अपने विरोधियों का सफ़ाया किया। लेकिन यह भी सच है कि इराक़ अरब देशों में सबसे उन्नत देशों में से एक था। वहाँ इस्लामी कट्टरपंथ को सद्दाम ने कभी जड़ें नहीं जमाने दी। इसके अतिरिक्त आधुनिक शिक्षा व्यवस्था, उद्योगों, तकनोलॉजी के जरिये इराक़ के आधुनिकीकरण के काम को सद्दाम ने अंजाम दिया। वहाँ रहन-सहन और पहनावे के मामले में स्त्रियों को काफ़ी आज़ादी मिली और कठमुल्लावादी-कट्टरपंथियों को छूट नहीं दी गयी कि वे मॉरल पुलिसिंग कर सकें। इस सबके दौरान सद्दाम ने अमेरिका समर्थक नीतियों को लागू किया और अमेरिका ने इराक़ का खूब इस्तेमाल किया। इसमें कोई शक़ नहीं है कि सद्दाम एक तानाशाह था जिसने अपने विरोधियों के प्रति कोई नरमी नहीं बरती और उन्हें बेरहमी से मौत के घाट उतारा। लेकिन, इसी सद्दाम से वर्तमान अमेरिकी उपराष्ट्रपति डिक चेनी आज से लगभग 25 वर्ष पहले बग़दाद में हाथ मिला रहा था, उस समय जिस समय सद्दाम हुसैन उन सभी अपराधों को अंजाम दे रहा था जिनके लिए उसे फाँसी दी गयी थी। जब इराक़ अपने आपको अमेरिका की जकड़बन्दी से आज़ाद कर अपने हितों की स्वतंत्र रूप से पूर्ति करने लगा तो वही सद्दाम हुसैन अमेरिका की आँखों की किरकिरी बन गए जो उसकी आँखों का तारा हुआ करते थे। ऐसा अमेरिका के साथ हमेशा ही होता है। वह हमेशा ही भस्मासुर पैदा करता रहा है। वही तालिबान जो अमेरिका की शह पर सोवियत साम्राज्यवादियों से लड़ रहा था, लगभग तीन दशक बाद अमेरिका का शत्रु बन गया। वही सद्दाम जो अरब में अमेरिका का एक अच्छा समर्थक था, दो दशक बाद अमेरिका का दुश्मन बन गया।

अभी तक आ रही ख़बरों से साफ़ है कि अमेरिका इराक़ में बहुत बुरा फँस गया है। ब्रिटेन ने इराक़ में अपने सैनिकों में कटौती कर दी है। यूरोप के अन्य कई देश पहले ही यह काम कर चुके हैं। अमेरिका के लगभग साढ़े तीन हज़ार सैनिक इराक़ में मारे जा चुके हैं। मार्च तक अमेरिका के कई हेलीकॉप्टर इराक़ के मुक्तियोद्धाओं ने मार गिराए हैं। अमेरिका तक को मानना पड़ा है कि वह फँस गया है और इराक़ युद्ध अब वियतनाम युद्ध जैसी शक्ल अख़्तियार करता जा रहा है। इराक़ से जो सैनिक ज़िन्दा लौट भी रहे हैं उन्हें तमाम मनोवैज्ञानिक बीमारियाँ हो गयी हैं और लम्बे समय तक वे डरे-डरे रहते हैं; कई बार तो ज़िन्दगी भर के लिए उनकी यही हालत हो जाती है। उन्हें नींद नहीं आती; लगता रहता है कि अभी कोई उनपर हमला कर देगा, वगैरह। दूसरी तरफ़, अमेरिका में बुश की लोकप्रियता में भयंकर कमी आयी है। लगभग तय है कि अगले चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी हारेगी। इराक़ युद्ध ने जितना आर्थिक फ़ायदा अमेरिका को दिया है लगभग उतना ही नुकसान कराकर हिसाब बराबर कर दिया है। तो इराक़ पहले ही काफ़ी नुकसान पहुँचा चुका है और अभी लगातार पहुँचा रहा है।

एक दूसरा पहलू भी है। वह यह है कि मौजूदा घटनाक्रम को देखते हुए ऐसा लगता है अमेरिका अपने कुछ मंसूबों में आंशिक तौर पर सफल हुआ है। अमेरिका की निगाह पिछले लम्बे समय से इराक़ के अकूत तेल भण्डार पर थी। लेकिन उस पर कब्ज़े में अमेरिका के सामने दो प्रमुख बाधाएँ थीं। पहली सद्दाम हुसैन की सत्ता, और दूसरी इराक़ की एक संगठित राष्ट्र के रूप में मौजूदगी। सद्दाम की हत्या के बाद अब अमेरिका सुन्नी, शिया और कुर्द आबादी के आपसी अन्तरविरोधों को हवा देकर इराक़ी एकता को विघटित करने में ज़ोर-शोर से जुटा है। हालाँकि, एक राष्ट्र के रूप में इराक़ का विघटन तो अमेरिका का दिवास्वप्न ही हो सकता है, परन्तु वहाँ सुन्नी, शिया और कुर्दों के संघर्ष को देखते हुए इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि अल्पकाल के लिए इराक़ी

एकता को कमज़ोर करने में अमेरिकी साम्राज्यवादियों को आंशिक सफलता मिली है। परन्तु सच्चाई का दूसरा पहलू यह है कि अमेरिका के इस कारनामे से इराक़ ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण अरब जनता में अमेरिका के ख़िलाफ़ नफ़रत का जो सैलाब उमड़ रहा है वह दूरगामी तौर पर, अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरोध में एक सर्व-अरब एकता को जन्म देगा। वहीं इराक़ी जनता में फूट डालने के षड़यंत्रों के बाद भी हाल में किये गये कुछ सर्वेक्षणों के मुताबिक, 90 प्रतिशत से ज़्यादा सुन्नियों तथा 60 प्रतिशत से ज़्यादा शियाओं ने कहा है कि अमेरिकी सैनिकों पर हमले पूरी तरह जायज़ और ज़रूरी हैं। 70 प्रतिशत से भी अधिक इराक़ी, जिसमें कुर्द भी शामिल हैं, चाहते हैं कि अमेरिकी फौजें उनका देश छोड़कर चली जाएँ। इसके अलावा, इराक़ी जनता अमेरिकी हमले का भरपूर जवाब दे रही है। इराक़ में मरने वाले अमेरिकी सैनिकों की संख्या 4000 के करीब पहुँच रही है। इसके अलावा दसियों हज़ार अमेरिकी सैनिक अपंग, घायल या मानसिक रोगों के शिकार हैं। इराक़ में अमेरिकी कारनामों ने यह साबित कर दिया है कि दुनिया को "जनतंत्र" का पाठ पढ़ाने वालों का जनतंत्र कैसा होता है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूरी दुनिया में बतिस्ता, मार्कोस, पिनोशे, दुवालियर, सुहार्तो जैसे जितने भी सैनिक तानाशाहों ने अपने देश में कई नरसंहार और बर्बर अत्याचार किये, वे सभी अमेरिकी कठपुतली थे। इज़रायल फिलिस्तीनी जनता पर आधी सदी से जो क़हर बरपा कर रहा है वह अमेरिकी मदद से ही सम्भव है। खुद अमेरिका के भीतर अश्वेतों, अप्रवासियों तथा सत्ता-विरोधियों पर जो अत्याचार होते रहे हैं, वे अमेरिकन स्टाइल डेमोक्रेसी की असलियत को दिखला देते हैं।

सद्दाम को मौत की सज़ा न्याय के इतिहास में एक "अभूतपूर्व" उदाहरण है! सज़ा किसी अन्तर्राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल ने नहीं बल्कि कठपुतली जजों की एक बेंच ने सुनयी। इन जजों की नियुक्ति एक ऐसी सरकार ने की जिनको ऐसे चुनावी प्रहसन के बाद चुना गया था जिसमें देश की बहुसंख्यक आबादी ने हिस्सा नहीं लिया था। इस सरकार के हाथ में आन्तरिक प्रशासन का भी बड़ा अधिकार नहीं है। पूरा प्रशासन वस्तुतः अमेरिकी सेना के हाथों में है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जजों की बेंच के जिन दो जजों से फाँसी की सज़ा पर मुहर लगाने की उम्मीद नहीं थी उन्हें बदल दिया गया। सद्दाम के एक वकील को गोली मार दी तथा कई क़ानूनी सलाहकारों को इराक़ जाने का वीज़ा तक नहीं दिया गया। ग़ौरतलब यह भी है कि सरकार के (कुर्द मूल) राष्ट्रपति ने फाँसी के हुक्मनामे पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। फिर भी सद्दाम को आनन-फानन में फाँसी दे दी गयी। हालाँकि अपने साम्राज्यवादी मंसूबों को पूरा करने की झोंक में अन्धा अमेरिका जब सद्दाम के पास रासायनिक तथा नाभिकीय हथियारों का नकली बहाना बनाकर समूचे विश्व जनमत को धता बता सकता है तो यह उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। हाँ, यह सच्चाई उजागर ज़रूर हो गयी है कि संयुक्त राष्ट्र जैसे अन्तरराष्ट्रीय मंच रस्मी विरोध की तमाम कवायदों की आड़ में वास्तव में साम्राज्यवादी हितों की सेवा करने वाले मंचों की ही भूमिका निभाते हैं।

सद्दाम निश्चित ही पूँजीवादी तानाशाह था। कुर्दों और शियाओं पर अस्सी और नब्बे के दशक में उसकी सत्ता ने जुल्म भी किये। पर साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सद्दाम की बाथ पार्टी एक समय एक ऐसी राष्ट्रीय जनवादी चरित्र वाली पार्टी के रूप में उभरी थी जो साम्राज्यवाद तथा उसके पिट्ठू शेखों-शाहों की निरंकुश सत्ताओं के विरुद्ध आम जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती थी। बाथ पार्टी के शासन के दौरान, इराक़ में जनता को बहुतेरे जनवादी अधिकार मिले। शिक्षा तथा स्वास्थ्य सेवाओं के मामले में काफ़ी प्रगति हुई। कला-साहित्य-संस्कृति का भी विकास हुआ। इराक़ एक धर्म निरपेक्ष अरब देश रहा है। उसके बाद सद्दाम की सत्ता में चरित्र परिवर्तन के पीछे मूल तर्क वही था जो कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों में विजय पाने के बाद तीसरी दुनिया के नवस्वाधीन देशों के तमाम बुर्जुआ शासकों के चरित्र परिवर्तन का मूल कारण था। 'खण्डित नायकत्व' की वही पुरानी कहानी! प्रारम्भिक दौर के कल्याणकारी कार्यों के बाद बुर्जुआ जनवाद क्षरित तथा विघटित होकर प्रतिक्रियावादी होता गया। और वे पूँजीवादी विश्व व्यवस्था में अवस्थित होते गये। सद्दाम के साथ भी यही हुआ। अपनी क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं तथा अन्य अरब देशों एवं बुर्जुआ शासकों से प्रतिस्पर्द्धा के चलते ही उसने ईरान के विरुद्ध अमेरिकी शह पर युद्ध छेड़ा। इन आपसी अन्तरविरोधों का फायदा अमेरिकी ने उठाया। यही दौर था जब सद्दाम की सत्ता जनता से कटकर दमनकारी होती चली गयी। साथ ही, इराक़ी जनता की सम्राज्यवादी विरोधी एकता भी विघटित होती चली गयी तथा शियाओं, सुन्नियों और कुर्दों के बीच अन्तरविरोध तीखे होने लगे। इसी दौरान, सद्दाम ने शियाओं-कुर्दों का दमन किया तथा बाथ पार्टी का सेक्युलरिज़्म भी क्षरित-विघटित होता चला गया। शियाओं और कुर्दो के हितों की दुहाई देता अमेरिका वास्तव में इन अन्तरविरोधों को खूब हवा दे रहा है ताकि विघटित इराक़ के तेल भण्डारों पर कब्ज़ा जमाने में आसानी हो। और सद्दाम ने अमेरिकी मंसूबों पर पानी फेरते हुए न केवल फिलिस्तीनी मुक्ति युद्ध का समर्थन किया बल्कि व्यापक अरब एकता की बात की। साथ ही, इराक़ का विदेशी मुद्रा भण्डार भी यूरो में करने की तरफ़ सद्दाम हुसैन की सरकार बढ़ने लगी। सद्दाम का यह कदम पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था को डगमगा सकता था। नतीजतन, अमेरिका ने ऐसे जनसंहारक हथियारों के होने का आरोप लगाते हुए इराक़ पर हमला कर दिया जिसका एक भी नामोनिशाँ अमेरिका को कभी नहीं मिला और बाद में उसे तक मानना पड़ा कि ऐसे कोई हथियार नहीं थे। वैसे भी यह क्या मज़ाक है कि जनसंहारक हथियारों को सबसे बड़ा जखीरा पिछवाड़े दाबकर बैठा अमेरिका बताता है कि कौन हथियार रखे और कौन नहीं!

सद्दाम हुसैन को फाँसी के बाद इराक़ी आत्मघाती दस्तों ने अपने हमले तेज़ कर दिये हैं। वहीं केवल इराक़ी ही नहीं बल्कि समूची अरब जनता में अमेरिका के ख़िलाफ़ नफ़रत कई गुना बढ़ी है। अमेरिकी वर्चस्व का हिंसक प्रतिरोध अरब में तमाम धार्मिक संगठन कर रहे हैं जिसमें हमास, हिज़बुल्ला जैसे संगठन महत्वपूर्ण हैं। लेकिन अरब जनता जेहाद के नारे के कारण इन संगठनों के पीछे गोलबन्द नहीं हुई है। किसी अन्य जनवादी, क्रान्तिकारी नेतृत्व की अनुपस्थिति में जनता इंतज़ार तो करती नहीं रहेगी। अमेरिकी साम्राज्यवाद से बेपनाह नफ़रत और घृणा के कारण वह आज इन धार्मिक कट्टरपंथी संगठनों के झण्डे तले ही खड़ी है क्योंकि ये

(पेज 14 पर जारी)

सच्चर समिति का सच

• शिवानी

देश में मुसलमानों की वास्तविक स्थिति के अध्ययन के लिए गठित सच्चर समिति की रिपोर्ट ने पूर्वानुमानित नतीजे ही सामने लाए हैं। और संसद में इस रिपोर्ट के पेश होते ही सभी चुनावबाज़ पार्टियों को बहस के लिए एक नया मुद्दा मिल गया मानो मुसलमानों की इस स्थिति से वे अभी तक अनजान थे। तो जहाँ किसी ने इस पर साम्प्रदायिकता की रोटी सेंकनी चाही, तो वहीं कोई खुद को मुसलमानों का सबसे बड़ा हितैषी साबित करने में जुट गया। ग़ौरतलब है कि 1980 में तत्कालीन इंदिरा गाँधी सरकार द्वारा गठित गोपाल सिंह समिति ने मुसलमानों की सामाजिक-आर्थिक दशा के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाले थे आज 26 साल के लम्बे अन्तराल के बाद भी कमोबेश वही स्थितियाँ हैं। इन मायनों में सच्चर समिति की रिपोर्ट कोई नया तथ्य नहीं प्रस्तुत कर रही है। मुसलमानों की दोयम दर्ज़े की स्थिति एक नंगी सच्चाई है और यह भी उतना ही सच है कि यह स्थिति उनमें एक पार्थक्य, असुरक्षा की भावना, अपमान और बेगानेपन का अहसास पैदा करती है। ऐसा नहीं है कि सरकार और कांग्रेस को मुसलमानों की स्थिति का अभी-अभी इलहाम हुआ है। मुसलमानों की स्थिति के बारे में जो बातें सच्चर समिति सामने लायी है वे तो पहले से ही पता थीं। फिर इसके पीछे सरकार का मक़सद क्या था?

आज़ादी के 60 साल बाद भी मुसलमानों की बड़ी आबादी विकट ग़रीबी, बदहाली और जहालत में ज़िन्दगी बसर कर रही है। यदि वास्तविक स्थिति पर नज़र डाली जाय तो पता चलता है कि इस देश की कुल आबादी का 13.4 प्रतिशत मुसलमान हैं, जिनमें से 43 फीसदी से ज़्यादा आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे बदतरीन हालात में जी रही है। कुल आबादी का 49 प्रतिशत आज भी शिक्षा से महरूम है जिनमें सबसे बड़ी तादाद औरतों की है। मुसलमान बच्चों का एक-चौथाई हिस्सा तो कभी स्कूल जा ही नहीं पाता। इन बच्चों में मृत्यु दर सबसे अधिक है और साथ ही इसमें बाल मज़दूरों की संख्या भी सबसे ज़्यादा है। देश के बुनकर उद्योग, चूड़ी उद्योग, चमड़ा उद्योग, पटाख़ों की फ़ैक्ट्री आदि जैसे उद्योगों की विषम अमानवीय परिस्थितियों में काम करने वालों में मुसलमान आबादी से आये बच्चों की संख्या सबसे ज़्यादा है। इसके विपरीत शिक्षा और नौकरियों में इनका प्रतिशत बहुत ही कम है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, उनमें साक्षरता की दर भी राष्ट्रीय दर से कम है। हिन्दू फासीवादियों के प्रचार के विपरीत सच्चाई यह है कि केवल 3.4 प्रतिशत मुसलमान बच्चे ही मदरसों में पढ़ने जाते हैं। सरकारी नौकरियों में भी उनका प्रतिनिधित्व सिर्फ़ 4.9 प्रतिशत है। इनमें भी ज़्यादातर निचले पदों पर हैं। पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश और असम जैसे राज्यों में मुसलमान आबादी का प्रतिशत क्रमशः 25.2 प्रतिशत, 18.5 प्रतिशत और 30.9 प्रतिशत है। वहाँ नौकरियों में मुसलमानों की भागीदारी क्रमशः 4.7 प्रतिशत, 7.5 प्रतिशत और 10.9 प्रतिशत है, जबकि इन राज्यों में संसदीय वामपंथियों और तथाकथित सेक्यूलर पार्टियों की कई बार सत्ताएँ रही हैं या अभी भी हैं और जो अपने मुसलमान प्रेम का ढिंढोरा जब-तब पीटती रहती हैं।

दूसरी तरफ़, साम्प्रदायिक दलों और फासीवादी ताक़तों के "मुस्लिम तुष्टिकरण" के आरोपों के बावजूद सच्चाई यह है कि आज भी मुसलमानों की भारी आबादी ग़रीबी, अशिक्षा और अपमान का जीवन व्यतीत कर रही है। वे न सिर्फ़ सामाजिक-आर्थिक हैसियत में बाकी आबादी की तुलना में आज भी काफ़ी पीछे हैं, बल्कि भयंकर बर्बर मज़हबी दमन-उत्पीड़न का शिकार भी हैं। आम मुसलमान इस देश में किस अपमान और डर के साये में जीता है उसे समझने के लिए अपने किसी मुसलमान मित्र से पूछिये कि उसके लिए शहर में एक कमरा या मकान किराए पर लेना तक कितना कठिन है। या फिर हर बमकाण्ड के बाद हर मुसलमान को आतंकवादी मान लेने वाली नज़रों और ग़रीब मुसलमानों की बस्तियों में आधी रात को पड़ने वाले पुलिसिया छापों को याद करना ही काफ़ी होगा। न्यायमूर्ति आनन्द नारायण मुल्ला कमीशन की रिपोर्ट में साफ़ कहा गया था कि आज़ादी के बाद से अब तक हुए साम्प्रदायिक दंगों में मुसलमानों के जानमाल का नुक़सान सबसे ज़्यादा हुआ है। आई.पी.एस. अधिकारी विभूति नारायण राय की पुस्तक में इस तथ्य का हवाला दिया गया है कि दंगों में पुलिस-प्रशासन बाक़ायदा एक हिन्दू-पक्ष के रूप में काम करते हैं।

सर्वविदित है कि मुसलमान आबादी को वोट बैंक के रूप में ही देखा जाता है और धर्म को सिक्के के रूप में वोट बैंक की राजनीति में इस्तेमाल किया जाता रहा है। इसीलिए तो मुसलमानों के हितों की नुमाइंदगी का दम भरने वाली कांग्रेस को मुसलमानों की याद आने लगी और एकाएक उनकी पिछड़ी, दोयम दर्ज़े की स्थिति का इलहाम हुआ। अब कई राज्यों और ख़ास तौर पर उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव के ठीक पहले अचानक जाग उठे उसके इस मुसलमान प्रेम की मंशा को आसानी से समझा जा सकता है। सच्चर समिति की रिपोर्ट पेश करके उसने एक बार फिर खुद को मुसलमानों का असली हितैषी (!!??) साबित करने की घृणित कोशिश की है। दरअसल, यह कांग्रेस का कोई मुसलमान प्रेम नहीं है बल्कि वोट बैंक की राजनीति में उछाला गया उसका मुसलमान "कार्ड" है। सच्चाई तो यह है कि आज़ादी से अब तक मुसलमान आबादी के सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने की दिशा में किसी भी चुनावी पार्टी ने अभी तक

कोई काम नहीं किया है। और भला वे यह काम करें भी क्यों? यह उनके एजेण्डे पर जो नहीं है! उधर मुसलमानों के धार्मिक नेता भी अपना उल्लू सीधा करने के लिए बहुसंख्यक मेहनतकश मुसलमान आबादी को पिछड़ेपन के अंधकार में जकड़े रखना चाहते हैं, इसलिए यह आम मुसलमान आबादी की दुर्दशा की बात कभी नहीं करते हैं। बल्कि इसके विपरीत धार्मिक कट्टरपंथ को बनाये रखने का काम इस्लामी कट्टरपंथ भी बखूबी करता है। और इस इस्लामी कट्टरपंथ के खेल का फायदा भी हिन्दू धार्मिक कट्टरपंथ ही उठाता है।

अतः अपनी बात फिर दुहराते हुए हम यह कहते हैं कि सच्चर समिति के माध्यम से मुसलमान प्रेम का जो नाटक कांग्रेस द्वारा रचा गया है, वह और कुछ नहीं बल्कि मुसलमानों में अपने खोये हुए आधार को पुनः हासिल करने की एक घिनौनी क़वायद है। उधर इस वोट बैंक को अपनी ओर खींचने की भरसक कोशिश में वामदल से लेकर मुलायम सिंह, वी.पी. सिंह व मायावती सहित सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ जी-जान से लग गयी हैं और भाजपा के पास तो इस मुद्दे पर अपना पुराना राग छेड़ने के सिवा कोई दूसरा रास्ता बचा नहीं है। ऐसे में चुनावी मदारियों के इन तमाशों की असलियत को समझने और उसका पर्दाफ़ाश करने की ज़रूरत आज सबसे ज़्यादा है।

आइए, अब एक निगाह सच्चर समिति द्वारा मुसलमानों की इस हालत में सुधार के लिए सुझाये गये नुस्खों पर डालते हैं। जी हाँ! वही पुराना आरक्षण का नुस्खा! पिछले 60 साल में आरक्षण के इस झुनझुने से दलितों-आदिवासियों की जीवन-स्थिति में कितना सुधार आया है यह सबके सामने है। मुसलमानों के लिए शिक्षा और रोज़गार में आरक्षण लागू कर भी दिया जाय तो मात्र इतना फ़र्क पड़ेगा कि कि उनके बीच से एक अत्यन्त छोटा, सुविधाजीवी, व्यवस्थापरस्त मध्यवर्ग पैदा होगा जो गाँवों और शहरों में निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलामों का जीवन बिताने वाली आम मेहनतकश मुसलमान आबादी से खुद को पूरी तरह काट लेगा और बेहद वफ़ादारी के साथ व्यवस्था के साथ खड़ा होगा, ठीक वैसे ही जैसे दलितों को आरक्षण के मामले में हुआ है। अतः मुसलमान समुदाय को शासक वर्ग की इन कुटिल चालों को समझना होगा। उन्हें समझना होगा कि दोयम दर्ज़े की इस हालत और साम्प्रदायिक ताक़तों के हमलों को जवाब और इससे उनकी मुक्ति आरक्षण जैसी किसी पैबन्दसाज़ी से नहीं बल्कि एक नये समाज के लिए व्यापक जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष के साथ जुड़कर ही हो सकती है।

मुसलमानों की कुल आबादी का 80 फीसदी से भी अधिक हिस्सा मेहनतक़श है। यही स्थिति दलितों की है। सवर्ण हिन्दुओं की एक भारी आबादी उजड़कर खेतों में मज़दूरी कर रही है या औद्योगिक केन्द्रों में उजरती गुलाम के रूप में खट रही है। स्त्रियों की बहुसंख्या पूँजी और पुरुषों की दोहरी गुलामी की शिकार है। कुल मिलाकर कहा जाय तो हर जातिगत, धार्मिक, लैंगिक पहचान आज तीखे तौर पर दो खेमों में बँटी हुई है—धनाढ्य और मेहनतकश। आरक्षण या ऐसा कोई भी लॉलीपॉप मेहनतकशों की समस्याओं का समाधान नहीं है। हर जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र के मेहनतकशों के मुद्दे एक हैं और उनकी क्रान्तिकारी एकजुटता के रास्ते इंकलाब का विकल्प ही उनके सामने मौजूद एकमात्र विकल्प है।

सद्दाम को फाँसी

(पेज 12 से जारी)

संगठन ही अमेरिकी साम्राज्यवाद का सच्चा प्रतिरोध कर रहे हैं। अरब देशों के शेख-शाह तो उसी साम्राज्यवाद के तलवेचाट और पत्तलचाट हैं। तो आख़िर जनता क्या करे? वह हमास और हिज़बुल्ला के साथ ही जाकर खड़ी होती है और अमेरिकी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ती है। वहीं इन संगठनों ने स्वास्थ्य और शिक्षा की जनसंस्थाएँ ख़ड़ी करके जनकल्याणकारी कार्यों को अंजाम दिया है और जनता का विश्वास जीता है। लेबनान में बर्बर इज़रायली गुण्डों द्वारा मचायी गयी तबाही के बाद तेज़ी से हुआ पुनर्निर्माण हिज़बुल्ला द्वारा चलायी जा रही समानान्तर स्वास्थ्य और निर्माण व्यवस्था द्वारा ही सम्भव हो पाया। इज़रायली लुटेरों की शर्मनाक पराजय भी हिज़बुल्ला के योद्धाओं के पराक्रम और चतुराई और उन्हें लेबनानी जनता के बहादुरी भरे समर्थन का फल था। जब तक जनता का कोई क्रान्तिकारी प्रतिरोध संगठित नहीं होता तब तक जो जनता को अमेरिकी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संगठित करने आयेगा, जनता उसके नेतृत्व को स्वीकार करेगी।

वास्तव में अमेरिका इराक़ ही नहीं बल्कि समूचे अरब का बाल्कनीकरण करना चाहता है। इस कोशिश में उसे कुछ आंशिक सफलता भी मिली है, हालाँकि यह क्षणिक ही है। लेकिन इसके कारण समूची दुनिया में उसकी थू-थू हो रही है। अरब जनता व्यापक जुझारू एकजुटता की ओर एक कदम और बढ़ गयी है। यही वजह है कि अरब देशों के शेख-शाह शासक भी अमेरिकी युद्ध को समर्थन देने से कतराने लगे हैं, जो अमेरिका के पुराने पालतू कुत्ते थे। ये अब नया मालिक तलाशने में भी जुट गये हैं! (सन्दर्भ : पुतिन का सऊदी दौरा)। मिस्र के राष्ट्रपति हुस्नी मुबारक ने साफ़ तौर पर कहा है कि अमेरिका अरब देशों के आंतरिक मामलों में ज़रूरत से ज़्यादा हस्तक्षेप कर रहा है। वहीं अन्य साम्राज्यवादी देश भी अमेरिकी चौधराहट को अर्थपूर्ण चुनौती देने में जुटे हैं और कइयों ने देनी शुरू भी कर दी है।

वस्तुतः अरब क्षेत्र आज पूँजीवादी विश्व के अन्तरविरोधों की एक प्रमुख गाँठ बन गया है। अभी से ही लगने लगा है कि अरब के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष आने वाले समय में साम्राज्यवाद को काफ़ी कमज़ोर करेंगे। काफ़ी कुछ उसी तरह जैसे तीसरी दुनिया के स्वाधीनता संघर्षों ने विश्व साम्राज्यवाद को एक दौर में कमज़ोर किया था। सद्दाम को तो अमेरिकी साम्राज्यवादी बर्बरों ने फाँसी दे दी। लेकिन जनता की अदालत में एक दिन इन बर्बरों के साथ भी इंसाफ़ किया जायगा।

गोरखपुर : दंगा नहीं चुनावी बिसात पर साम्प्रदायिक बँटवारे का खूनी खेल

● अरविन्द

पूर्वी उत्तर प्रदेश का गोरखपुर शहर पिछले दिनों कर्फ्यू, आगजनी, तोड़फोड़ और हिंसक घटनाओं के लिए लगभग एक पखवारे तक सुर्खियों में बना रहा। ख़बरों के लिए ख़बरिया चैनलों और पूँजीवादी अखबारों पर निर्भर अधिकांश आम लोगों के मन में अभी तक शायद यही धारणा बैठी होगी कि गोरखपुर में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भीषण साम्प्रदायिक दंगा हुआ था। लेकिन ज़मीनी हक़ीकत मीडिया द्वारा गढ़ी गयी सच्चाई से बिल्कुल अलग है। गोरखपुर में दंगा नहीं हुआ। यानी, ऐसा बिल्कुल नहीं हुआ कि दोनों समुदायों के आम लोग धार्मिक जुनून के वशीभूत होकर एक दूसरे को मरने-मारने पर आमादा हो गये हों। बेशक, गोरखपुर सहित पड़ोसी जिलों कुशीनगर, महाराजगंज आदि में जगह-जगह आगजनी व तोड़फोड़ हुई। गोरखपुर में दो बेगुनाहों की जानें भी गयीं, लेकिन यह सब दंगा नहीं चुनावी बिसात पर खेल गया साम्प्रदायिक बँटवारे का खूनी खेल था।

हालांकि, आज देश की पूँजीवादी चुनावी राजनीति पतनशीलता के जिस कीचड़-कुण्ड में लोट रही है उसमें जाति-धर्म के बँटवारे का यह खूनी खेल बारहमासा हो चुका है। चुनाव हो न हो किसी न किसी रूप में यह चलता ही रहता है। लेकिन जब चुनाव नज़दीक आने लगते हैं तो यह खेल एकदम खुल्लम-खुल्ला खेला जाता है। खेल की ख़ासियत यह है कि इसमें खेलने वाले दोनों पक्ष जीतते हैं और हारती है जनता। वह आम जनता जो इसमें भागीदारी करना ते दूर दर्शक बनना भी आम तौर पर पसन्द नहीं करती।

पिछले दिनों गोरखपुर इसी खेल का मैदान बना। एक ओर हिन्दुत्व के तथाकथित रक्षक थे और दूसरी ओर धर्मनिरपेक्षता के तथाकथित रखवाले। इसकी तैयारी लम्बे समय से चल रही थी। उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव की तारीख नज़दीक आने के साथ ही दोनों खेमों में बेचैनियाँ बढ़ती जा रही थीं। दोनों दो-दो हाथ कर लेने को उतावले थे लेकिन सही मैदान और मुकाबले का सही समय तय नहीं हो पा रहा था। गोरखपुर में विगत 26-27 जनवरी की रात मुहर्रम की छठी के जुलूस के वक्त घटी एक दुर्घटना ने मैदान और समय दोनों मुहैय्या करा दिया। खेल चालू हो गया जो अनेक उतार-चढ़ाव के दौर से गुज़रता लगभग एक पखवारे तक चलता रहा।

26-27 जनवरी की रात घटी घटना न तो पूर्वनियोजित थी और न ही यह साम्प्रदायिक हिंसा थी। यह इत्तफ़ाकन घटी एक घटना थी। स्थानीय डी. ए. वी. कॉलेज में एक वैवाहिक समारोह में शामिल कुछ लोगों और समारोह में आयी आर्केस्ट्रा पार्टी के लोगों के बीच एक विवाद के बाद अफ़रा-तफरी मच गयी थी। इसी अफ़रा-तफरी में कुछ लोग कॉलेज से बाहर भागे। इसी समय कॉलेज के सामने मुहर्रम की छठी का जुलूस निकल रहा था। कॉलेज से भागकर आये कुछ लोग जुलूस में शामिल हो गये। इसी बीच किसी ने फायरिंग कर दी और मारपीट शुरू हो गयी। इस हंगामे के बीच राजकुमार अग्रहरी नामक एक निर्दोष युवक फँस गया। उसे काफी चोट आ गयी और अस्पताल में उसकी मृत्यु हो गयी।

इसी घटना को साम्प्रदायिक रंग देकर गोरखनाथ पीठ के उत्तराधिकारी और सदर सांसद योगी आदित्यनाथ ने स्थानीय प्रशासन पर लापरवाही बरतने और प्रदेश सरकार पर मुस्लिम तुष्टीकरण करने का आरोप लगाते हुए टकराहट की मुद्रा अख़्तियार कर ली। इसी का लाजिमी नतीजा शहर में कर्फ्यू और योगी सहित कई प्रमुख स्थानीय भाजपा नेताओं और 100 से अधिक कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी के रूप में सामने आया।

योगी की गिरफ्तारी के अगले दिन से गोरखपुर शहर सहित कुशीनगर और महाराजगंज जिलों में जगह-जगह योगी समर्थकों और हिन्दू युवा वाहिनी के कार्यकत्ताओं के साथ ही कुछ अन्य शरारती तत्वों ने तोड़फोड़ और आगजनी करना शुरू किया जिससे साम्प्रदायिक तनाव के हालात पैदा होने की सम्भावनाएँ बन गयीं थीं। एक स्थानीय भाजपा पार्षद और उसके भाई ने बड़े ही ठंडे तरीके से एक मुस्लिम युवक की हत्या कर दी। शहर में ख़बर फैलायी गयी कि स्कोर अब एक-एक की बराबरी का हो गया है। एक अन्य बुजुर्ग मुसलमान को भी मिट्टी का तेल छिड़ककर जलाने का प्रयास किया गया। लेकिन उकसावे की इन तमाम कार्रवाइयों और तरह-तरह की अफवाहों के बावजूद आम लोग साम्प्रदायिक जुनून का शिकार नहीं हुए और न ही हालात कभी भी बेकाबू ही हुए। इसका एक कारण शायद यह था कि आम लोग इस चुनावी खेल को समझ रहे थे और दूसरा शायद यह कि महंगाई की मार और अमीरी ग़रीबी के बीच बढ़ते सामाजिक ध्रुवीकरण ने दोनों धार्मिक समुदायों के मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता की भावना को अन्दर ही अन्दर मजबूत बनाया है।

योगी और अन्य भाजपा नेताओं की गिरफ्तारी और तक़रीबन दस दिन बाद रिहाई के समूचे घटनाक्रम के दौरान साम्प्रदायिक आधार पर वोटों के बँटवारे को ठोस बना लेने की नीयत से बयानबाजियाँ होती रहीं। योगी की रिहाई के लिए प्रदेश के विभिन्न स्थानों से प्रमुख भाजपा नेताओं के कूच करने और उनकी गिरफ्तारी का नाटक भी खूब चला। भाजपा नेताओं ने मुलायम सिंह यादव पर मुस्लिम तुष्टीकरण की राजनीति करने और हिन्दुओं के सम्मान और गरिमा को आघात पहुँचाने का आरोप लगाया। वहीं दूसरी ओर मुलायम सिंह यादव साम्प्रदायिक शक्तियों को कुचलने और उनके मंसूबों को नाकाम करने का बयान लगातार देते रहे

जिससे प्रदेश भर के मुसलमानों के बीच यह सन्देश जाये कि एकमात्र वे ही मुसलमानों की रक्षा कर सकते हैं। बयानबाजियों का यह सिलसिला चुनावों की तिथियाँ नज़दीक आते जाने के साथ ही और तेज़ होता जा रहा है।

एक तरफ हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक फासीवादी शक्तियाँ और दूसरी ओर चुनावबाज धर्मनिरपेक्षता के अलमबरदार– दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। 'क्रिया-प्रतिक्रिया' का यही ख़तरनाक खेल जब आगे बढ़ता है तो किसी भी समय भीषण दंगें के रूप में बदल जाता है। वैसे भी 'बाँटों और राज करो' हुकूमती जमातों का पुराना खेल है। आज 'जाति-धर्म', के आधार पर साम्प्रदायिक बँटवारे के इस खेल में किसी न किसी रूप में सभी चुनावबाज पार्टियां शामिल हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में योगी आदित्यनाथ के नेतृत्व में आक्रामक हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक राजनीति का पिछले एक दशक में काफ़ी फैलाव हुआ है। उनकी हिन्दू युवा वाहिनी के बैनर तले गाँवों-कस्बों तक निम्न मध्य वर्ग बेरोजगार, युवा संगठित हो रहे हैं। उनके जीवन की हताशा-निराशा सही दिशा न मिलने के कारण उन्हें इस साम्प्रदायिक राजनीति की चपेट में ले रही हैं। एक ओर जहाँ यह भारतीय पूँजीवाद के संकट की देन है जो अब गरीब-निम्नमध्यवर्ग के युवाओं को भविष्य की नाउम्मीदी के सिवा और कुछ नहीं दे सकती तो दूसरी ओर यह क्रान्तिकारी शक्तियों की कमज़ोरी की भी देन है जिससे युवाओं को भविष्य का सही रास्ता नहीं दिख रहा है। योगी की गिरफ्तारी के बाद की हिंसक घटनाओं में हिन्दू युवा वाहिनी के इन्हीं कार्यकर्त्ताओं की ही सक्रियता अधिक नज़र आयी। आम हिन्दू धार्मिक भावनाओं के कारण योगी के प्रति सहानुभूति भले रख रहा हो सड़क की कार्रवाई से वह दूर ही रहा।

पूँजीवाद के मौजूदा संकट से करोड़ों करोड़ नौजवानों का भविष्य जिस तरह अँधेरी चक्करदार गलियों में भटक रहा है वह फासीवादी ताकतों के फलने-फूलने के लिए अनुकूल खाद-पानी मुहैय्या करा रहा है। गोर्की ने एक जगह लिखा है कि निम्न मध्यवर्ग के निराश और पीले-बीमार चेहरे वाले नौजवान फासिस्टों की फौज के सिपाही बनते हैं। यही नौजवान आज हमारे देश में एक नये क्रान्तिकारी परिवर्तन की विराट ऊर्जा से भी सम्पन्न हैं। लेकिन इस ऊर्जा को इस दिशा में सक्रिय करने के लिए युवा आबादी के बीच क्रान्तिकारी विचारों के निरन्तर प्रचार और उन बुनियादी मुद्दों को उभारने के लिए संघर्ष-आन्दोलन की विविध कार्रवाइयों की जरूरत होगी जिन्हें साम्प्रदायिक फासीवादी ताकतें ही नहीं सभी पूँजीवादी राजनीतिक पार्टियाँ भी दबाती रहती हैं। ये मुद्दे हैं देशी-विदेशी पूँजी की लूट के मुद्दे, महँगाई, बेरोज़गारी, आम जनता के उत्पीड़न और जनतांत्रिक अधिकारों के मुद्दे आदि। शहीदे आज़म भगत सिंह ने भी कहा था **''लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग चेतना की ज़रूरत है। गरीब मेहनतकशों और किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़कर कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म, या राष्ट्र के हों अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग नस्ल और राष्ट्रीयता के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताकत अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करो।''**

साम्प्रदायिक फासीवाद का मुकाबला करने में नौजवानों को भगत सिंह की इस विरासत को हमेशा अचूक हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए। इसके साथ ही नौजवानों को सच्ची धर्मनिरपेक्षता से भी परिचित कराया जाना चाहिए। सच्ची धर्मनिरपेक्षता सर्वधर्मसमभाव कदापि नहीं हो सकती। सच्ची धर्मनिरपेक्षता है राज्य के कामों से धर्म का पूरी तरह से अलगाव और केवल व्यक्तिगत आस्था के रूप में ही धर्म का बने रहना। हमारे देश में सर्वधर्मसमभाव पर आधारित नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता का ही डंका बजाया जाता है। नकली वामपन्थी पार्टियाँ भी इसी का गुन गाती हैं जबकि देश में साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति के फलने-फूलने में इस तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की भी अहम भूमिका रही है।

विगत बीसवीं सदी के इतिहास ने सिद्धकर दिया है कि कोई भी पूँजीवादी निजाम आज सेक्युलर हो ही नहीं सकता। अपनी लूट की हिफ़ाज़त के लिए सरमायेदारों को भी न केवल धर्म के आधार पर जनता को बाँटना है, बल्कि उसे अन्धविश्वास, रहस्यवाद और भाग्यवाद की अँधेरी खोह में फँसाये रखना भी जरूरी है। इतिहास गवाह है कि सच्चा धर्मनिरपेक्ष समाज आज केवल मेहनतकश जनता का राज--सच्चा समाजवाद ही दे सकता है। परिवर्तनकामी नौजवानों को यह बात अच्छी तरह समझनी होगी कि साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्मसमभाव के नारे में नही बल्कि एक ऐसे सामाजिक राजनीतिक ढाँचे में है जिसमें धर्म लोगों का व्यक्तिगत विश्वासमात्र हो, जिसमें वैज्ञानिक जीवन दृष्टि समाज की मार्गदर्शक शक्ति हो और जहाँ शिक्षा, संचार माध्यमों और राजनीति सहित सार्वजनिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में धर्म का लेशमात्र भी दखल न हो। यह नया भारत एक समाजवादी भारत होगा जो मेहनतकश जनता के इंक़लाबी संघर्षों के साँचे में ढलकर तैयार होगा।

शहीदे आज़म भगत सिंह और उनके साथियों ने भी आज से 75 साल पहले यही कहा था। उनसे भी पहले गदर पार्टी के क्रान्तिकारियों ने बार-बार ज़ोर देकर कहा था कि राजनीति और सामाजिक जीवन से धर्म को बिल्कुल अलग रखा जाना चाहिएं। अपनी इस विरासत को मजबूती से थामकर ही हम साम्प्रदायिकता के खिलाफ संघर्ष को आगे बढ़ा सकते हैं।

पाठक मंच

(पेज 2 से जारी)

दिख रहे हैं दूर से
नीतियों से लाखों को श्मशान कर।
यह प्रणाली लाभ की पूँजी की धुर पर जब तक चलेगी,
प्रात में बचपन, दोपहरी में जवानी भी लुटेगी।
साँझ को लूटेगी जीवन, अंधकारों में तुम्हारी पीढ़ियों को लूट लेगी।
एक जीवन के लिए इस नर्क से जीवन की ख़ातिर
पीढ़ियाँ तुमको क्या कहेंगी ऐ स्वार्थी नर
स्वार्थ को त्यागो, मोह से जागो, शोषित ज़िन्दगी के
मुक्तिकामी मुक्त गगन में ज़रा उड़कर देखो ले सके हर व्यक्ति अपना अंश, शोषण दंश से बच
आज तेरा ओज, तेरी बुद्धि, तेरी प्राण-ज्वाला क्रान्ति की आँधी, तिरस्कृति आज तेरी मुक्त काया
मुक्त हर किलकारियों के लिए तुमको माँगता हूँ।

प्रेमप्रकाश, दिल्ली

निठारी काण्ड : पूँजीवादी व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति की ह्रास कथा

● अभिनव

निठारी काण्ड से सभी लोग अच्छी तरह वाकिफ़ होंगे। हर संवेदनशील व्यक्ति की संवेदनाओं को इस बर्बर घटना ने अन्दर तक हिलाकर रख दिया है। निठारी काण्ड के बाद देश के कई हिस्सों से ऐसी ही घटनाओं की ख़बरें आईं। एक अस्पताल के बाहर से भ्रूणों और शिशुओं की हड्डियाँ बरामद हुईं, एक प्रयोगशाला से बच्चों के नरकंकाल मिलने की ख़बर आयी और मुक्तसर में एक राइस शेलर से भी कुछ बच्चों के नरकंकाल पाए गए। इन घटनाओं ने इस पूरी व्यवस्था ही नहीं, इस पूरी सभ्यता और संस्कृति पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया है। इन घटनाओं के दौरान इस पूँजीवादी व्यवस्था के हर चेहरे से मुखौटों और नक़ाब को उतार फेंका है। चाहे वह पूँजीपति वर्ग हो, नौकरशाही हो, पुलिस हो, मीडिया हो, सभी को निठारी काण्ड ने अलफ़ नंगा कर दिया है। एक पूँजीपति और उसका अमानवीकृत नौकर जो बच्चों के साथ दुष्कर्म करके उनकी हत्या कर देते थे और फिर उनका नरभक्षण करते थे, एक डॉक्टर जिसपर उन बच्चों के अंग बेचने का सन्देह है, मीडिया जो तब तक निठारी की घटनाओं को सनसनी बनाकर बेचता रहा जब तक इन ख़बरों का बिक्री मूल्य बरकरार था, नौकरशाही जो इस पूरे दुष्कर्म में सहअपराधी थी, पुलिस जो इस दुष्कर्म में शामिल ऊँची हस्तियों को बचाने के लिए मोनिन्दर सिंह की कोठी से सबूत मिटाने का काम करती रही और जिसे सीबीआई ने भी स्वीकारा। यहाँ तक कि सुप्रीम कोर्ट ने भी यह कहकर छुट्टी पा ली कि निठारी काण्ड पुलिस सुधार लागू न होने की वजह से हुआ। यह भी इस व्यवस्था की सड़ाँध को छिपाने के लिए धूपबत्ती जलाने से अधिक और कुछ नहीं था, हालाँकि इससे यह सड़ाँध और भी असह्य हो गयी।

हम सभी जानते हैं कि सवाल पुलिस सुधारों को लागू करने या न करने का है ही नहीं। मुद्दा यह है कि वह कौन-सी ज़मीन है जो मोनिन्दर सिंह और सुरेन्दर कोली जैसे नरभक्षियों को पैदा करती है? जब तक मोनिन्दर सिंह और सुरेन्दर कोली जैसे लोगों को यह समाज पैदा करता रहेगा तब तक ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को नहीं रोका जा सकता। ये करोड़ों के मालिक अपनी ज़िन्दगी में खा-पी-अघाकर बोर होने के बाद, अपनी मुनाफ़े की हवस को मज़दूरों और मेहनतक़शों का खून निचोड़कर शान्त करने के बाद, उनके बच्चों के शरीर से अपनी हवस को शान्त करते हैं।

निठारी काण्ड कोई आम घटना नहीं है जो पूँजीवादी समाज में सड़कों पर रोज़ घटती है; यह कोई प्रतिनिधि घटना भी नहीं है; **यह इस पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतीक घटना है।** यह किसी शारीरिक हवस के आवेश में आकर किये गये अपराध नहीं हैं। ये बेहद सोच-समझकर ठण्डे तरीक़े से की गयी हत्याएँ हैं जिसमें इस समाज का नैतिक, सामाजिक पतन साफ़ नज़र आता है। मेहनतक़शों के बच्चों के साथ साल-दर-साल दुष्कर्म करके उनकी हत्याएँ करना और फिर उनका मांस-भक्षण करना एक ऐसा अपराध है जो यह दिखलाता है कि इस देश का पूँजीपति वर्ग रुग्ण, विक्षिप्त और बीमार हो चुका है जो अपने लाभ की हवस को मिटाने के बाद बच्चों के शरीर से अपनी भूख मिटाने पर आमादा है। यह दिखलाता है कि इस समाज में इंसानी जान की कोई कीमत नहीं है। मेहनतक़शों की जान का अपने आपमें कोई मतलब नहीं है अगर वह मुनाफ़ाखोरों-मुर्दाखोरों की हर किस्म की हवस को मिटाने के काम नहीं आती है। ग़रीबों के वजूद का अर्थ तभी है जब वह उनकी हवस को शान्त करने के लिए हो। **निठारी काण्ड सिर्फ़ पूँजीवादी समाज, अर्थव्यवस्था और कानून-व्यवस्था की असफलता को नहीं दिखलाती। यह पूरी पूँजीवादी सभ्यता के मरणोन्मुख, सड़ाँध मारते चरित्र और उसके नरभक्षीपन को नंगा करती है। यह पूँजीवादी सभ्यता की पतनकथा है।**

इस समाज और व्यवस्था से हम कुछ कम की उम्मीद नहीं कर सकते। ये हमें यही दे सकती है। हर साल इस देश में लाखों बच्चे लापता हो जाते हैं और कभी नहीं मिलते। या तो वे सड़कों पर भीख माँग रहे होते हैं, होटल में प्लेटें साफ़ कर रहे होते हैं, किसी सेठ-व्यापारी की तिजोरी अपने खून से सने सिक्कों से भर रहे होते हैं, या फिर कोई मोनिन्दर और सुरेन्दर उनके साथ दुष्कर्म करके, उनकी हत्या करके उनका भक्षण करते हैं। **यह कानून-व्यवस्था की असफलता नहीं है; यही इस सभ्यता और व्यवस्था की वास्तविक कानून-व्यवस्था है, जो हत्यारों-मुर्दाखोरों-आदमखोरों की सेवा में रत है और ग़रीबों की जान को अपनी देख-रेख में नरभक्षियों के हवाले कर देती है।**

यह पूरी घटना आँखें खोल देने वाली है। यह साफ़ बता रही है कि पूँजीवादी सभ्यता का कुतुबनुमा बता रहा है कि इसका जहाज़ एक ऐसे भँवर की ओर जा रहा है जो उसे इतिहास के गर्त में ले जाकर डुबाएगा। जिस घिनौनी पतनशीलता का शिकार रोमन साम्राज्य था, आज की पूँजीवादी व्यवस्था उससे भी भयंकर पतनशीलता का शिकार है। जब विश्व पूँजीवाद मन्दी के संकट से जूझ रहा था, पूँजीवादी सभ्यता के शिखरों पर भी मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा था और फ्रेडरिक नीत्शे जैसे दार्शनिकों का मानवता-विरोधी दर्शन सामने आ रहा था, तब भी कहा गया था कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने अंत की ओर बढ़ रही है। लेकिन यहाँ मुद्दा सिर्फ़ मानवद्रोही

अर्थव्यवस्था और समाज का नहीं है; यहाँ मसला केवल यह नहीं है कि पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की हवस में मेहनतकशों की हड्डी का पाउडर बनाकर बाज़ार में बेच रहा हो; यहाँ सवाल महज इतना नहीं है कि पूँजीपति वर्ग और व्यवस्था मेहनतकशों को लूटकर अपने ऐशो-आराम और सुविधाओं के साज़ो-सामान जुटा रही हो; पतनशीलता का आलम आज यह है कि धनिक समाज का एक हिस्सा अपनी धनलोलुपता में स्वयं भी मानव होने की शर्तों को खो चुका है; यह वर्ग लूटने और निचोड़ने का आदी होता है और यह उसकी आदत होती है। वे कारखानों में मज़दूरों के खून को उनके शरीर से जोंक की तरह चूस जाते हैं, वे बाज़ारों में आम मेहनतकश आबादी की जेब से एक-एक आना निचोड़कर उसे दरिद्रता और भुखमरी का जीवन व्यतीत करने पर मजबूर कर देते हैं, और फिर जब इतने से भी उनका मन नहीं भरता तो वे इस हद तक पहुँच जाते हैं कि अपने ख़ाली निजी समय में मेहनतकशों के बच्चों का मांस-भक्षण करते हैं और उनके साथ दुराचार करते हैं, वे आदमखोर होने की हद तक पहुँच जाते हैं।

निठारी काण्ड पूँजीवादी सभ्यता की ह्रास कथा है। यह दिखलाती है कि आज के नवधनाढ्य वर्ग की हवस और विलासिता और पतनशीलता पॉम्पेई के विलासियों की हवस और विलासिता और पतनशीलता से भी कहीं अधिक घिनौनी है। यहाँ का पूँजीपति वर्ग नीरो से भी ज़्यादा मानवद्रोही और आदमखोर है।

और इस पूरी घटना पर इस देश का तथाकथित जनपक्षधर बुद्धिजीवी वर्ग की क्या प्रतिक्रिया आती है? महज थोड़ा अफ़सोस और शांतिवादी विलाप! बस मध्यवर्गीय नपुंसक भावनात्मकता का बेकार कीचड़! रुदालियों जैसा बनावटी रुदन! निठारी काण्ड पर तमाम अखबारों में इन कलमनवीसों की प्रतिक्रिया इस पूरी व्यवस्था और समाज के प्रति कोई नफ़रत नहीं पैदा करती। यह अंकर्मक रुदन करने से ज़्यादा और कुछ भी करने को प्रेरित नहीं करती है। जब बौद्धिक चुप रहते हैं तो वे समाज को और तेज़ी से गड्ढे की ओर ले जाते हैं। जो घटना हालिया वर्षों में पूँजीवाद की बर्बरतम प्रतीक घटनाओं में एक थी या शायद सबसे बर्बर घटना थी, उसके बारे में भी ऐसा बाँझ लेखन ही दिखला देता है कि इस देश का मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी किस स्थिति में पहुँच चुका है।

इस घटना से इस व्यवस्था की पक्षधरता भी साफ़ जाहिर हो गयी। अभी कुछ माह पहले जब एक बहुराष्ट्रीय सॉफ्टवेयर कम्पनी के एक उच्च अधिकारी का बच्चा अनन्त अगवा हो गया था तो पूरा प्रशासन, मीडिया और नौकरशाही किस तरह हरक़त में आ गयी थी, यह आप सबको याद होगा। तमाम भाँड़-भँड़ुक्के और पूँजीपतियों के दलाल नेता इस अधिकारी के घर संवेदना जताने पहुँच गये थे। समाजवादी पार्टी का नेता अमर सिंह सबसे पहले हमदर्दी जताने पहुँच गया था (जैसा कि कोई भी आसानी से अन्दाज़ा लगा सकता है)। यह घटनां भी नोएडा की ही थी। कुछ ही घण्टों में अनन्त बरामद कर लिया गया था। वहीं दूसरी ओर नोएडा के ही निठारी गाँव से साल-दर-साल सैंकड़ों बच्चे ग़ायब होते रहे और पुलिस रिपोर्ट तक नहीं लिखती थी। एक बार मोनिन्दर सिंह शक़ के कारण गिरफ्तार भी हुआ था लेकिन किसी आला दर्ज़े के नेता के हस्तक्षेप के कारण पुलिस को उसे छोड़ना पड़ा था। और फिर जब पूरी नेताशाही और नौकरशाही इस मामले के कारण बेनक़ाब होने की दहलीज़ पर पहुँच गयी तब मोनिन्दर सिंह और सुरेन्दर कोली को गिरफ्तार करके सारे नेताओं और अफ़सरों को बचाने की कोशिशें शुरू कर दी गयीं। यह बात सभी जानते हैं कि मोनिन्दर सिंह की उसी खूनी कोठी में जलसे हुआ करते थे और उसमें तमाम बड़े नेता, अफ़सर और नौकरशाह आया करते थे। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यह पीडोफाइल्स को एक पूरा नेटवर्क हो। पीडोफाइल्स वे मानसिक रुग्णता के शिकार वे लोग होते हैं जो बच्चों के शरीर से अपने हवस की भूख मिटाते हैं। पश्चिमी दुनिया ख़ासकर अमेरिका और जर्मनी के नवनात्सियों में यह रुझान काफ़ी पाया जा रहा है। भारत में यह और अधिक रुग्ण रूप में सामने आ रहा है।

खो जाना...

जैसा कि हमने पहले भी बताया है कि इस देश की सड़कों से हर वर्ष लाखों बच्चे ग़ायब हो जाते हैं। खो जाने का अर्थ क्या है? इस व्यवस्था में खो जाने का अर्थ सिर्फ़ किसी मोनिन्दर-सुरेन्दर के हाथ लग जाना ही नहीं है। सोचने की बात यह है कि किनके बच्चे ग़ायब होते हैं। आँकड़े बताते हैं कि ग़ायब होने वाले बच्चों में से अधिकांश आम घरों से आने वाले मेहनतक़शों के बच्चे होते हैं। यह वर्ग एक अदृश्य वर्ग होता है। यह हर जगह मौजूद होता है, लेकिन नज़र नहीं आता। यह हर रोज़ सड़क के किनारे फुटपाथ पर पैदल चलता चुपचाप काम पर जाता है, फैक्ट्रियों में अपने-आपको निचुड़वाता है, उसी तरह वापस आ जाता है। वह बस आदतन जीता जाता है। उसकी ज़िन्दगी में खटने, खाने-पीने और प्रजनन के अतिरिक्त और कोई ऐसी चीज़ नहीं होती जो यह दर्शाती हो कि वह ज़िन्दा है, जो दरअसल वे गतिविधियाँ हैं जो पशु भी करते हैं। जो चीज़ इंसान को इंसान बनाती है वह है संस्कृति, साहित्य, चिन्तन, दर्शन आदि। लेकिन यह उसके नसीब में नहीं, क्योंकि यह सब करने के लिए ख़ाली वक़्त चाहिए होता है जो उसके पास नहीं होता। वह तो 12 से 14 घण्टों तक अपने लिए दो रोटी कमाने में ही ख़र्च कर देता है। यही वह वर्ग है जिसके बच्चे निठारी में ग़ायब हुए। यही वह वर्ग जिसके बच्चे निठारी ही नहीं हर जगह ग़ायब होते हैं और भयंकर अमानवीय शोषण का शिकार होते हैं। ये बच्चे अगर किसी मोनिन्दर या सुरेन्दर के हाथ न भी लगें तो उनके जीवन में खटना, भूखों सोना, दवा और इलाज के अभाव में और भुखमरी के कारण मर जाना, अशिक्षित, असंस्कृत रहा जाना ही लिखा होता है। एक इंसान के तौर पर तो उनकी ज़िन्दगी खोई हुई ही होती है। वे भौतिक तौर पर शाब्दिक अर्थों में न भी खोएँ तो भी उनका बचपन, जीवन, सपने और आकांक्षाएँ खो ही जाते हैं। वे अपने मेहनत के फल के अधिकारी नहीं होते। वह उनसे अलग कर दिया जाता है और बदले में ज़िन्दा रहने की ख़ुराक दे दी जाती है। यह दुनिया वे बनाते हैं लेकिन किसी भी चीज़ पर उनका हक़ नहीं होता, चाहे वह इमारत हो, सड़कें हों, कपड़े, कागज़, कलम हो, अनाज, मकान हो, या कुछ भी हो। इन्हें बनाने वाले लोग इन पर काबिज़ नहीं होते। ये लोग अपने श्रम के उत्पादों से महरूम कर दिये जाते हैं। अलगाव की यह प्रक्रिया उनमें पूरी दुनिया से अलगाव पैदा करती है। पहले वे चीज़ों की दुनिया से अलगाव महसूस करते हैं और फिर वे लोगों से भी अलगाव महसूस करने लगते हैं क्योंकि इस दुनिया में लोग चीज़ों के लिए हैं, न कि चीज़ें लोगों के लिए।

यह अलगाव या बेगानापन भी इस समाज में खो जाने की ही एक अभिव्यक्ति है। यह खोने की प्रक्रिया अपना श्रम, अपनी पहचान, अपना वजूद खोने की प्रक्रिया है। यह उन्हें अकेला बना देती है, सबसे बेगाना बना देती है। इस तरह एक मेहनतक़श भौतिक अर्थों में न भी खोए तो भी वह खुद से और अपने ही भाइयों-बहनों से बेगाना होता है।

एक आर्थिक परिघटना के रूप में मेहनतकशों का खो जाना तो बहुत पहले से ही इस पूँजीवादी समाज की चारित्रिक आभिलाक्षणिकता था। निठारी काण्ड ने और इस काण्ड के बाद ग़ायब होने वाले बच्चों के बारे में सामने आये आँकड़ों ने इस सच्चाई को एकदम साफ़ कर दिया। अगर निठारी काण्ड जैसी घटनाएँ न भी हों, हालाँकि ऐसा होना असम्भव है, तो भी यह समाज अस्सी फीसदी जनता के लिए जीने के लायक नहीं है। समाज के सारे संसाधनों और समृद्धि को पैदा करने वाला वर्ग सिर्फ़ इस समाज के मुनाफ़ाखोरों की जूठन चाटने का मजबूर है, जो मुनाफ़ाखोर कोई भौतिक सम्पदा नहीं पैदा करते और सही मायनों में एक अतिरिक्त और फालतू वर्ग है जिसके बिना इस समाज का कुछ नहीं बिगड़ेगा। समाज का यह पंद्रह फीसदी हिस्सा समाज के नब्बे फीसदी संसाधनों पर कब्ज़ा जमाकर बैठा है, जबकि समस्त भौतिक सम्पदा पैदा करने वाला वर्ग ज़िन्दगी की बुनियादी शर्तों से भी वंचित है।

निठारी काण्ड ने यह दिखला दिया कि यह आर्थिक शोषण और उत्पीड़न शोषक वर्गों की धनलोलुपता को किस हद तक ले जा सकता है। निठारी काण्ड ने दिखला दिया कि पैसे की हवस इंसान को इंसान नहीं रहने देती है। निठारी काण्ड ने दिखला दिया कि आज का पूँजीपति वर्ग अपने मानव होने की शर्तों को भी खो चुका है। इसने सिद्ध कर दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था ही नहीं पूरी पूँजीवादी सभ्यता अपने कोर तक सड़ चुकी है और पतित हो चुकी है और इसकी सही जगह बहुत पहले से ही इतिहास का कूड़ेदान है।

हम तमाम नौजवानों से पूछना चाहते हैं कि क्या वे इसी आदमखोर समाज और सभ्यता के 'लॉ एण्ड ऑर्डर' को कायम रखने के लिए प्रशासनिक सेवाओं और पुलिस सेवाओं में जाने की परीक्षाओं में पास होने के लिए अपनी अक़्ल और शरीर घिसते रहना चाहेंगे? क्या अब भी कोई भ्रम है इस व्यवस्था को लेकर?

हम तमाम मेहनतक़शों से पूछना चाहेंगे कि अब और किस चीज़ का इन्तज़ार है और कब तक? पहले तो यह पूँजीपति वर्ग कारखानों में उनके शरीर को घिस-घिसकर अपने मुनाफ़े की हवस को शान्त कर रहा था और अब वह उनके बच्चों के साथ दुष्कर्म और उनका मांसभक्षण कर रहा है। क्या इससे भी बर्बर कोई अत्याचार सह लेने का इन्तज़ार है?

हम तमाम सभ्य नागरिकों से पूछते हैं कि क्या वे अपने बच्चों को एक ऐसे नरभक्षी और असुरक्षित समाज में बढ़ता देखना चाहेंगे जिसमें ग़रीबों के बच्चों के साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है? हम उनसे पूछना चाहेंगे कि खुद उनके बच्चे ऐसे समाज में कब तक सुरक्षित हैं? क्या हर संवेदनशील नागरिक का यह कर्तव्य नहीं है कि ऐसी व्यवस्था और समाज को आमूल-चूल बदल डालने की लड़ाई में शामिल हो जाएँ?

हम सभी शिक्षकों और बुद्धिजीवियों से पूछना चाहेंगे कि वे बच्चों को किस समाज और संविधान के प्रति निष्ठावान होने की शपथ दिलवाएँगे? वे उनमें किस व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध होने की भावना पैदा करेंगे? जो आगे चलकर उनका ही मांस नोच-नोचकर खाए? हम पूछना चाहते हैं कि कहाँ हैं हमारे देश के क्रिस्टोफर कॉडवेल, राल्फ फॉक्स, विक्तोर ख़ारा जो बेहतर मानवीय मूल्यों के लिए लड़ते हुए शहीद हो जाने वाले बुद्धिजीवी थे? क्या हमारे समाज में अब कोई विद्यालंकार जैसा शिक्षक नहीं पैदा होगा जिसने भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारियों की एक पूरी पीढ़ी तैयार करने में महती भूमिका निभाई? कहाँ हैं हमारे देश के फेदरीको गर्सिया लोर्का और नाज़िम हिक़मत?

ये सवाल आज हर संवेदनशील, इंसाफ़पसन्द, तरक्कीपसन्द, और सभ्य नागरिक के सामने खड़ा है कि आख़िर किस चीज़ का इन्तज़ार है और कब तक? दुनिया को तुम्हारी ज़रूरत है! बदल दिये जाने के लिए!

मक्सिम गोर्की : एक सच्चा सर्वहारा लेखक

(पेज 22 से जारी)

होकर विश्व साहित्य में दिलचस्पी लेने लायक़ हुई है वह गोर्की के कृतित्व की क्लासिकी गहराई और उनकी महानता से लगभग अपरिचित है। मक्सिम गोर्की का विराट रचना संसार था, लेकिन पूरी दुनिया के साहित्य प्रेमियों का एक बड़ा हिस्सा आज भी उससे अनजान है। उनके कई महान उपन्यास, कहानियाँ, विचारोत्तेजक निबन्ध तो अंग्रेज़ी में भी उपलब्ध नहीं हैं। इस मायने में हिन्दी के पाठक गोर्की के साहित्य से और भी अधिक वंचित रहे हैं। हिन्दी में तो गोर्की के साहित्य का बहुत छोटा हिस्सा ही लोगों के सामने आ सका है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'एक फालतू आदमी का जीवन' और 'मत्वेई कोझेम्याकिन का जीवन' आज तक हिन्दी में अनूदित नहीं हुए हैं। उनका बहुश्रुत चार खण्डों वाला अन्तिम विराट उपन्यास 'क्लिम सामगिन की ज़िन्दगी' का तो अंग्रेज़ी में भी अनुवाद नहीं हुआ है।

इधर आम तौर पर साहित्य में जिन चीज़ों का बाज़ार निर्मित हुआ है उसमें गोर्की, शोलोखोव जैसे लेखकों का साहित्य वैसे भी समाज-बहिष्कृत है। उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं से अनभिज्ञता और वैचारिक पूर्वाग्रहों के चलते गोर्की की कालजयी महानता से आज नये पाठक लगभग अपरिचित हैं। इस अनमोल विरासत को पाठकों को उपलब्ध कराने की चुनौती को स्वीकारना होगा। यह हमारे साहित्य और समाज दोनों को नई ऊष्मा से भर देगा।

स्मृति संकल्प यात्रा के दो वर्ष पूरे होने के अवसर पर विशेष

स्मृति संकल्प यात्रा

क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन वर्ष

(23 मार्च 2005–28 सितम्बर 2008)

भगतसिंह, और उनके साथियों की शहादत की 75वीं वर्षगाँठ और जन्मशताब्दी के तीन ऐतिहासिक वर्षों के दौरान साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध नये जनमुक्ति संघर्ष की तैयारी के आह्वान के साथ क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं का देशव्यापी अभियान

एक बार फिर
महान शहीदों की स्मृतियों और विरासत से
सँजोना है संकल्प और विवेक का ईंधन
और प्रज्ज्वलित करनी है
नये संघर्षों की आग,
भविष्य-स्वप्नों से ढालनी हैं इस्पाती मुक्ति-परियोजनाएँ।
उठो, देश के युवा शिल्पियो,
चलो जनजीवन की कार्यशाला में
गढ़ने के लिए
स्वस्थ-सकर्मक जीवन-ऊष्मा से स्पन्दित यथार्थ।
पूँजी की रक्त-पिपासु सत्ता के विरुद्ध
निर्णायक न्याय-युद्ध के सेनानियो,
चलो प्रतीक्षारत जनता के बीच
प्रबल चक्रवाती झंझा को आमंत्रण देते हुए।

साथियो,

एक ज़िन्दा क़ौम की युवा पीढ़ी गुज़रे हुए अतीत को वापस लाने का ख़्वाब नहीं देखती, बल्कि वह अतीत से सबक लेती है, अपने पूर्वज क्रान्तिकारियों और शहीदों की स्मृति से प्रेरणा और विचारों से दिशा लेती है तथा कठिनतम चुनौतियों से जूझती हुई भविष्य-निर्माण के महासमर में सन्नद्ध हो जाती है।

बर्तानवी गुलामी से आज़ादी के साठ वर्षों बाद देश आज कहाँ पहुँचा है? – आँसुओं के सागर में समृद्धि के कुछ द्वीप, ग़रीबी, अभाव और यंत्रणा के रेगिस्तान में विलासिता की कुछ मीनारें, ऊँची विकास-दर के शोर के बीच अकूत सम्पदा की ढेरी पर बैठे मुट्ठी भर परजीवी और दूसरी ओर शिक्षा और स्वास्थ्य-सुविधा तो दूर, बारह-चौदह घण्टों तक हड्डियाँ गलाने के बावजूद दो जून की रोटी भी मुश्किल से जुटा पाने वाली चालीस करोड़ आबादी, बीस करोड़ बेरोज़गार युवा, करोड़ों भुखमरी के शिकार बच्चे, शरीर बेचने को बेबस लाखों स्त्रियाँ। देशी पूँजीपतियों की बेलगाम लूट और विदेशी लूट-खसोट के लिए खुले दरवाज़े की नीति, संसद और विधानसभाओं में ऊँघते और धींगामुश्ती करते पूँजी के टुकड़खोर चाकर गुण्डे और अपराधी, मज़दूरों के हितों का सौदा करने वाले नकली वामपंथी, जनाक्रोश पर पानी के छींटे मारने वाले एन.जी.ओ., बिके हुए सुविधाभोगी बुद्धिजीवी, जनान्दोलनों पर लाठी-गोली की बौछार, साम्प्रदायिक दंगों और धार्मिक कट्टरपंथ की फासिस्ट राजनीति, जाति के आधार पर आम मेहनतकश जनता को बाँटने की साज़िशें – यही है इक्कीसवीं सदी के "चमकते चेहरे वाले" भारत की तस्वीर। ज़ाहिर है कि इस सड़े-गले ढाँचे को मिट्टी में मिलाकर ही जन मुक्ति का स्वप्न साकार किया जा सकता है और एक नये भारत का निर्माण किया जा सकता है।

भगतसिंह और उनके विचारवान युवा साथियों ने दस फीसदी थैलीशाहों के लिए नहीं, बल्कि नब्बे फीसदी आम जनता के लिए आज़ादी और जनतंत्र का सपना देखा था। बर्तानवी गुलामी और सामन्तवाद से लड़ाई उनकी दृष्टि में साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के विरुद्ध लम्बी लड़ाई की एक कड़ी थी। उनका सपना सच्चे अर्थों में समाजवाद का सपना था – यानी एक ऐसा समाज जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर आम मेहनतकश जनता काबिज़ हो।

वर्ष 2005-2006 भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद यतीन्द्रनाथ दास और चंद्रशेखर आज़ाद की शहादत का पचहत्तरवाँ वर्ष था। यही वर्ष चन्द्रशेखर आज़ाद का जन्मशताब्दी वर्ष भी था। सितम्बर 2008 को भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष का भी समापन होगा। चटगाँव विद्रोह के 75 वर्ष, नौसेना विद्रोह के 60 वर्ष और 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के 150 वर्ष भी इसी दौरान पूरे होंगे। यह अवसर इस देश के नौजवानों के लिए अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी की याददिहानी का अवसर है। यह 'नयी प्रेरणा–नये संकल्प–नयी शुरुआत' का अवसर है। इसीलिए, 23 मार्च 2005 से लेकर 28 सितंबर 2008 के बीच के इन तीन वर्षों को, एक नयी क्रान्ति का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने वाली स्मृति-संकल्प यात्राओं के माध्यम से क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन ऐतिहासिक वर्ष बना देने के लिए हम कृतसंकल्प हैं।

अपनी यात्रा टोलियों के अभियानों, जनसभाओं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि के माध्यम से हम छात्रों-युवाओं का आह्वान करते हैं कि वे क्रान्ति का सन्देश लेकर गाँवों-शहरों के मेहनतकशों तक जायें तथा उन्हें तमाम पूँजीवादी चुनावी पार्टियों, नकली वामपंथियों, ट्रेडयूनियनबाज़ों, एनजीओपंथियों, साम्प्रदायिक फासिस्टों और जातिवादी राजनीति के सरगनाओं से आगाह करें। हम उनका आह्वान करते हैं कि वे अपने क्रान्तिकारी संगठन बनायें और मेहनतकश जनता को संगठित करने के लिए आगे आयें। हम बुद्धिजीवियों का आह्वान करते हैं कि वे ज्ञान बेचकर सुख-सुविधा ख़रीदने की स्वार्थी प्रवृत्ति छोड़कर जनता के आदमी बनें और क्रान्तिकारी परिवर्तन के विचार एवं संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाने वाले हरकारे बन जायें।

एक नयी क्रान्ति के लिए नयी क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्ति का ढाँचा गढ़ना होगा और इस काम में हमें तत्काल, प्राणप्रण से जुट जाना होगा। इसलिए, आओ, एकजुट होकर आगे कदम बढ़ायें।

नौजवान भारत सभा
दिशा छात्र संगठन

सम्पर्क:

● बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094, फोन : 011-65976788 ● रूम न.-3, ए-67, क्रिश्चियन कालोनी, पटेल चेस्ट के निकट, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, फोन : 9213243755/9911055517 ● डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020, फोन : 0522-2786782 ● 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, 09415646383 ● संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर, फोन : 0551-2241922 ● नोएडा, फोन : 09211273360 ● गाजियाबाद, फोन : 09891993332 ● लुधियाना, फोन : 09463339621 ● डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर

ईमेल : smriti_sankalp@yahoo.com, smriti.sankalp@gmail.com

जन्मदिवस (29 मार्च) के अवसर पर

मक्सिम गोर्की : एक सच्चा सर्वहारा लेखक

● नमिता

दुनिया में ऐसे लेखकों की कमी नहीं, जिन्हें पढ़ाई-लिखाई का मौका मिला, पुस्तकालय मिला, शान्त वातावरण मिला, जिसमें उन्होंने अपनी लेखनी की धार तेज़ की। लेकिन विरले ही ऐसे लोग होंगे जो समाज के रसातल से उठकर आम-जन के सच्चे लेखक बने। मक्सिम गोर्की ऐसे ही लेखक थे।

29 मार्च 1868 को रूस के वोल्गा नदी के किनारे एक बस्ती में मक्सिम गोर्की का जन्म हुआ। सात वर्ष की उम्र में ही अनाथ हो जाने वाले गोर्की को बहुत जल्दी ही इस सच्चाई का साक्षात्कार हुआ कि ज़िन्दगी एक जद्दोजहद का नाम है। समाज के सबसे ग़रीब लोगों की गन्दी बस्तियों में पल-बढ़कर वह सयाने हुए। बचपन से ही पेट भरने के लिए उन्होंने पावरोटी बनाने के कारखाने, नमक बनाने के कारखाने (नमकसार) में काम करने से लेकर गोदी मज़दूर, रसोइया, अर्दली, कुली, माली, सड़क कूटने वाले मज़दूर तक का काम किया। समाज के मेहनत करने वाले लोगों, ग़रीब आवारा लोगों, गन्दी बस्तियों के निवासियों के बीच जीते हुए उन्होंने दुनिया की सबसे बड़ी किताब—ज़िन्दगी की किताब से तालीम हासिल की। उन्होंने स्कूल का मुँह तक नहीं देखा था, लेकिन पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे कमरतोड़ मेहनत के बाद भी उन्होंने किसी न किसी को अपना गुरू बनाकर ज्ञान प्राप्त किया। कुछ समय तक उन्होंने महान रूसी लेखक व्लादीमिर कोरोलेंको से लेखन कला सीखी और बहुत जल्दी ही रूस के एक बड़े लेखक बन गये।

पुराने रूसी समाज की कूपमण्डूकता, निरंकुशता और सम्पत्ति सम्बन्धों की निर्ममता ने युवा लेखक अलेक्सेई मक्सिमोविच को इतनी तल्ख़ी से भर दिया था कि उन्होंने अपना नाम "गोर्की" रख लिया, जिसका अर्थ है तल्ख़ या कड़वाहट से भरा। लेकिन उनकी तल्ख़ी दिशाहीन नहीं थी। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार मिखाईल शोलोखोव ने उनके बारे में लिखा है—"गोर्की उन लोगों को प्यार करते थे, जो मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्ष करते थे और अपनी प्रचण्ड प्रकृति की पूरी शक्ति से शोषकों, दुकानदारों और निम्न पूँजीपतियों से नफ़रत करते थे, जो प्रान्तीय रूस के निश्चल दलदल में ऊँघते रहते थे...उनकी पुस्तकों ने रूसी सर्वहारा को जारशाही के ख़िलाफ़ लड़ना सिखाया।"

गोर्की के शुरुआती उपन्यासों 'फोमा गोर्देयेव' और 'वे तीन' के केन्द्रीय चरित्र फोमा और इल्या लुनेव ऐसे व्यक्ति हैं, जो निजी सम्पत्ति पर आधारित समाज के तौर-तरीकों को स्वीकारने से इंकार कर देते हैं। लेकिन उनके वास्तविक नायक बीसवीं सदी के आरम्भ में सामने आते हैं, जब रूसी समाज करवट बदल रहा था। 'माँ' उपन्यास ने क्रान्तिकारी सर्वहारा के रूप में साहित्य को एक नया नायक दिया।

गोर्की की बहुत-सी कृतियों में क्रान्तिकारी गतिविधियों का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है लेकिन आबादी के सबसे निचले तलों में भी गोर्की विचारों के उफान को, छिपी हुई मानवीय शक्तियों को खोज निकालते हैं। उनके आत्मकथात्मक उपन्यासत्रयी का केन्द्रीय पात्र अपने असँख्य अनुभवों के दौरान इन्हीं उफनते विचारों और छिपी हुई शक्तियों का संचय करता है। उसका चरित्र रूसी यथार्थ में जड़ जमाई हुई बुराइयों तथा सोचने के आम तौर पर व्याप्त ढर्रे के विरुद्ध बगावती तेवर अपनाकर विकसित होता है।

गोर्की के समकालीन तोलस्तोय, चेखव, शोलोखोव, सभी उनकी प्रतिभा के उत्कट प्रशंसक थे। रोम्याँ रोलाँ और एच. जी. वेल्स ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। यूरोप और अमेरिका के उन लेखकों ने भी उनकी प्रतिभा का लोहा माना था और उनकी प्रशंसा की थी, जो मार्क्सवादी नहीं थे। रोम्याँ रोलाँ ने स्वीकार किया था कि गोर्की मानवता की अमूल्य धरोहर हैं।

गोर्की ने अपने जीवन और लेखन से सिद्ध कर दिया कि दर्शन और साहित्य विश्वविद्यालयों, कॉलेजों में पढ़े-लिखे विद्वानों की बपौती नहीं है बल्कि सच्चा साहित्य आम जनता के जीवन और लड़ाई में शामिल होकर ही लिखा जा सकता है। उन्होंने अपने अनुभव से यह जना कि अपढ़, अज्ञानी कहे जाने वाले लोग ही पूरी दुनिया के वैभव के असली हक़दार हैं। आज एक बार फिर साहित्य आम जन से दूर होकर महफिलों, गोष्ठियों यहाँ तक कि सिर्फ़ लिखने वालों तक सीमित होकर रह गया है। आज लेखक एक बार फिर समाज से विमुख होकर साहित्य को आम लोगों की ज़िन्दगी की चौहद्दी से बाहर कर रहा है।

पिछले लगभग 15 वर्षों के भीतर जो पीढ़ी समझदार

(पेज 19 पर जारी)

स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के अलग-अलग हिस्सों में कार्यक्रम जारी

23 मार्च, 2005 को भगत सिंह और उनके साथियों के 75 शहादत वर्ष के आरम्भ पर शुरू की गई स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के विभिन्न क्रान्तिकारी संगठन पिछले दो वर्षों से भगतसिंह के उस सन्देश पर अमल कर रहे हैं जो उन्होंने जेल की कालकोठरी से नौजवानों को दिया था; कि छात्रों और नौजवानों को ज़रूरत है कि वे क्रान्ति की अलख लेकर गाँव-गाँव, कारखाना-कारखाना, शहर-शहर, गन्दी झोपड़ियों तक जाएँ। इस अभियान के दौरान इन जनसंगठनों ने जो भी जनकार्रवाइयाँ की हम उसका एक संक्षिप्त ब्यौरा देते रहे हैं और इस बार भी यहाँ दे रहे हैं। जिन इलाकों में अभियान की टोलियों ने मुहिम चलाई उनमें उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद, लखनऊ, गोरखपुर, वाराणसी, कानपुर, नोएडा, ग़ाज़ियाबाद, हापुड़; पंजाब में जालंधर, लुधियाना आदि जैसे शहर और साथ ही दिल्ली समेत पूरा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र भी शामिल है। इनमें से कुछ स्थानों की अभियान सम्बन्धी रिपोर्टें हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

इस 23 मार्च को स्मृति संकल्प यात्रा के दो वर्ष पूरे हो रहे हैं। यह यात्रा अभी लगभग डेढ़ वर्षों तक, यानी भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष के समापन पर ख़त्म होगी। इस अवसर पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की देश के अलग-अलग हिस्सों में मौजूद इकाइयाँ विशेष कार्यक्रम करेंगी। इस अंक के आने तक देश के अलग-अलग हिस्सों में जो अभियान चल रहे हैं उनकी रिपोर्ट इस बार के अंक में दी जा रही हैं। इन तीन वर्षों के दौरान ये दोनों ही संगठन अपनी सभी गतिविधियों को स्मृति संकल्प यात्रा के बैनर तले ही कर रहे हैं।

— सम्पादक

करावलनगर इलाके में स्मृति संकल्प यात्रा के तहत दो दिवसीय सघन साईकिल यात्रा

दिल्ली। अमर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद के 77वें शहादत वर्ष (27 फरवरी) की पूर्व संध्या पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा ने संयुक्त रूप से दो दिवसीय साईकिल यात्रा निकाली। इस यात्रा में नौजवानों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

करीब पच्चीस नौजवानों की टोली ने साईकिल यात्रा के दौरान गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले जाकर लोगों के बीच व्यापक और सघन जनसभाएँ कीं और क्रान्तिकारी गीतों, भाषणों, नुक्कड़ नाटकों और पर्चा वितरण के जरिये भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद और उनके साथियों के विचारों से लोगों को परिचित कराया और बताया कि उन अमर शहीदों ने एक ऐसे भारत का सपना नहीं देखा था जिसमें रोज़ भूख और कुपोषण से हज़ारों बच्चे मर जाते हैं और गोदामों में अनाज सड़ता रहता है, उन्होंने एक ऐसे भारत का सपना नहीं देखा था जिसमें लोकतंत्र के नाम पर चोर, लुटेरे, अपराधी, बलात्कारी और भ्रष्टाचारी आम मेहनतक़श जनता की छाती पर मूँग दलें। इन नौजवानों ने एक नये परिवर्तन के लिए संघर्ष की नये सिरे से तैयारी का संकल्प लिया और जनता का इसके लिए आह्वान किया।

यह साईकिल रैली मुकुन्द विहार से निकलकर प्रकाश विहार गई और फिर इसने अंकुर एंक्लेव, भगतसिंह कॉलोनी, कमल विहार, शिवविहार होते हुए मुस्तफ़ाबाद, गोविन्द विहार के इलाकों का व्यापक क्षेत्र कवर किया और कई नुक्कड़ सभाएँ कीं। नुक्कड़ सभाओं में नौजवानों और मज़दूरों को आज की स्थितियों से वाकिफ़ कराते हुए चुनावबाज़ पार्टियों की पोल-पट्टी खोली गयी। यह बताया गया कि 60 साल की आज़ादी की हक़ीकत जगजाहिर हो चुकी है। ऐसे में शहीदों को सिर्फ़ रस्मअदायगी के तौर पर नहीं बल्कि एक संकल्प-वरण के रूप में याद करना और उनके विचारों को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है।

साईकिल यात्रा में 'तोड़ो बन्धन तोड़ो', 'गर थाली आपकी खाली है', 'ये फैसले का वक़्त है', आदि जैसे क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किये गये।

स्मृति संकल्प यात्रा के तहत दिल्ली विश्वविद्यालय में नुक्कड़ नाटक

दिशा छात्र संगठन की सांस्कृतिक टोली 'विहान' ने दिल्ली विश्वविद्यालय में कई स्थानों पर नुक्कड़ नाटकों और क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की। पहले 10 जनवरी को दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स की कैण्टीन में एक एकल म्यूज़िक कंसर्ट किया गया। इस कंसर्ट में 'बीस्तीर्णो दुपारेर', 'दरबारे-वतन में', 'इमैजिन', और 'बड़ी-बड़ी कोठिया' जैसे गीत प्रस्तुत किये गये। इसके बाद 2 फरवरी को नॉर्थ कैम्पस के आर्ट्स फैकल्टी में नयी इमारत की

कैण्टीन के सामने विहान की टीम ने 'देख फकीरे लोकतंत्र का फूहड़ नंगा नाच' नामक नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत किया गया जिसमें संसदीय लोकतंत्र की धज्जियाँ उड़ायी गयी हैं। इस कार्यक्रम में बात रखते हुए दिशा छात्र संगठन के प्रसेन ने देश भर में फैलाये जा रहे साम्प्रदायिक उन्माद की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि छात्रों को विशेष रूप से साम्प्रदायिक फासीवादी शक्तियों की इस साज़िश को समझना चाहिए और इसका पर्दाफाश करके इसके विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए।

इसके बाद दिशा छात्र संगठन की शिवानी ने अपनी बात रखते हुए कहा कि निठारी काण्ड ने इस पूरी सभ्यता के नरभक्षीपन को उघाड़कर हमारी आँखों के सामने रख दिया है। यह सिर्फ़ निठारी के उन मेहनतकशों का मसला नहीं है जिनके बच्चों के साथ यह बर्बर कृत्य किया गया। यह हरेक संवेदनशील और न्यायप्रिय नौजवान के सामने यह सवाल खड़ा करता है कि आख़िर किस व्यवस्था में घुसने के लिए वे एड़ियाँ घिस रहे हैं? एक ऐसी व्यवस्था जिसके कर्ता-धर्ता और मालिक, जिनके इशारों पर पुलिस और पूरी नौकरशाही नाचती है, अपने मुनाफ़े और शरीर की हवस में बच्चों तक को नहीं बख्शते हैं? अन्त में शिवानी ने कहा कि आज दो ही रास्ते हमारे सामने हैं—इंक़लाब के जरिये एक समतामूलक और मानव-केन्द्रित समाज, या फिर बर्बरता और विनाश!

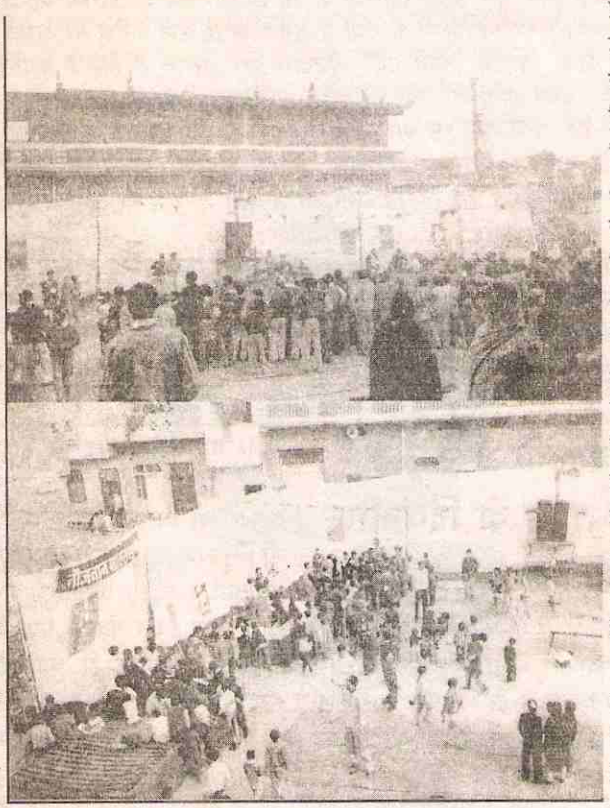

नौजवान भारत सभा द्वारा आयोजित रचनात्मक जनमेला के कुछ दृश्य

इसके बाद 'दरबारे-वतन में', 'पैसा', 'जय श्री राम-जय श्री राम-आलू प्याज़ के इतने दाम', और 'आह्वान गीत' जैसे क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किये गये। अन्त में दिशा के संयोजक अभिनव ने कहा कि आज के समय में सच्चा नौजवान उसे ही कहा जा सकता है जो सिर्फ़ अपने कैरियर के लिए अन्धा न होकर, इस समाज को बदलने की लड़ाई में शिरकत करता है। यह समाज अस्सी फीसदी लोगों के जीवन की पूर्वशर्तों को पूरा नहीं करता और उन्हें पशुओं जैसा जीवन जीने पर विवश करता है। एक ऐसे समाज में कोई भी सच्चा नौजवान सिर्फ़ अपने बारे में कैसे सोच सकता है, ख़ास तौर पर तब जबकि उसके अस्तित्व की एक-एक शर्त वही अस्सी फीसदी आबादी पूरी करती है, चाहे वह रोटी, कपड़ा और मकान हो या फिर उसके जीवन की तमाम सुख-सुविधाएँ। दिशा से जुड़ने का आह्वान करते हुए अभिनव ने कहा कि किसी भी चुनावबाज़ पार्टी का लग्गू-भग्गू बनकर नौजवान अपना भविष्य नहीं सँवार सकते। रास्ता यही है कि नौजवान एक ऐसी देशव्यापी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण में अपनी अगुवा भूमिका को समझें और उसे निभाने के लिए आगे आएँ, जो लोकस्वराज्य व्यवस्था लाने की तरफ़ आगे बढ़े जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ हो और फैसले लेने की ताक़त उनके हाथों में हो।

इसके बाद 20 फरवरी को नॉर्थ कैम्पस के ही हंसराज कॉलेज में विहान की टीम ने एक म्यूज़िक कंसर्ट किया। इसमें भी कई क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की गयी। इससे पहले प्रशासन द्वारा कार्यक्रम में बाधा डालने का प्रयास किया गया। इस पर बात रखते हुए दिशा के मिथिलेश ने कहा कि आज विश्वविद्यालय की पूरी अवधारणा को ही विकृत बनाया जा रहा है। एक दौर था जब विश्वविद्यालय मुक्त अभिव्यक्ति और जनवाद का गढ़ हुआ करते थे। लेकिन आज शासक वर्ग अपने भय के कारण विश्वविद्यालय कैम्पसों का घेटोकरण कर रहे हैं। इस साज़िश को समझने और इसे नाक़ाम करने के लिए नये सिरे से छात्र अधिकारों और कैम्पस के जनवादीकरण की लड़ाई छेड़नी होगी।

इन कार्यक्रमों में दिशा छात्र संगठन को छात्रों ने उत्साहपूर्वक समर्थन दिया और उससे जुड़ने की इच्छा जताई। छात्रों ने दिशा की टीम के साथ पतों और फोन नम्बरों का आदान-प्रदान किया।

नये साल की पूर्वसन्ध्या पर नौजवान भारत सभा द्वारा रचनात्मक जनमेला

करावलनगर, दिल्ली। नववर्ष की पूर्व संध्या पर नौजवान भारत सभा और बच्चा पार्टी ने संयुक्त तौर पर सांस्कृतिक रचनात्मक जनमेला का आयोजन किया। इस अवसर पर बच्चों द्वारा नाटक व गीतों की प्रस्तुति के अलावा कला व सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता भी ओयाजित की गयी। स्थानीय लोगों ने इस रचनात्मक मेले की सराहना की और उसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

इस अवसर पर नौजवान भारत सभा के संयोजक आशीष ने बताया कि यह मेला दो वर्षों से जारी स्मृति संकल्प यात्रा के तहत ही आयोजित किया गया है। स्मृति संकल्प यात्रा का उद्देश्य देश भर में भगतसिंह के क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार-प्रसार है और इसका एक अंग यह भी है कि जनता के बीच के अलगाव और पार्थक्य को तोड़ा जाय। ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिए जहाँ लोग मिलें और एक-दूसरे के दुख-सुख से जुड़ें। ऐसी संस्थाएँ आगे चलकर प्रतिरोध के मंच के रूप में भी विकसित की जा सकती हैं। साथ हीं ऐसे सांस्कृतिक आयोजनों में जनता के बीच स्वस्थ सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करने का काम भी इंक़लाब के व्यापक प्रोजेक्ट से जुड़ा हुआ कार्य है, क्योंकि एक सुरुचि-सम्पन्न जनता ही परिवर्तन के विचारों को आत्मसात कर सकती है।

शान्ति निकेतन स्कूल के सामने मैदान में लगे इस मेले में सुबह से ही रौनक का माहौल था। बच्चा पार्टी के सदस्यों ने इस जगह को रंग-बिरंगी झण्डियों से सजाया और कई खेलों के स्टॉल भी लगाये। बच्चों की 'सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता' मेले का मुख्य आकर्षण बन गयी। इस प्रतियोगिता में टीमों का नामकरण भगतसिंह, राजगुरू, सुखदेव, गणेश शंकर विद्यार्थी और चन्द्रशेखर आज़ाद के नामों पर किया गया। इन टीमों के बीच सम्पन्न हुई प्रतियोगिता में सुखदेव टीम विजयी रही। छोटे-छोटे बच्चों ने अपने परिवेश और इंक़लाबी शहीदों के बारे में अपनी जानकारी से लोगों को हैरान कर दिया।

सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता के अतिरिक्त बच्चों के अलग-अलग आयु वर्गों के बीच चित्रकला प्रतियोगिता भी आयोजित की गयी। इसमें बच्चों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और पुरस्कार में बच्चों को पुस्तकें दी गयीं। बच्चों की कला प्रतियोगिता में नितिन, कीर्ति, शिवम व शालू पुरस्कृत हुए और सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता में पुरस्कार किशन, शिवानी, अमर व सचिन की सुखदेव टीम को मिला।

शाम होते ही मंच के सामने लोगों की भीड़ जमा हो गयी क्योंकि अब सांस्कृतिक संध्या शुरू होने का समय आ गया था। इस कार्यक्रम में बच्चा पार्टी के बच्चों ने 'सरकारी साँड़' नामक नाटक का मंचन किया। साथ ही बच्चों ने 'यारो! यही दोस्ती है', व 'प्यार बाँटते चलो' जैसे गीत पेश करके आपसी भाईचारे को बढ़ावा देने का सन्देश दिया। नौभास की टोली ने सफ़दर हाशमी के नाटक 'समरथ को नहीं दोष गुसाँई' का मंचन किया और व्यवस्था का पर्दाफ़ाश किया। इसके अतिरिक्त नौभास के सदस्यों ने 'आ गये यहाँ जवाँ कदम...', व 'कदम मिलाओ साथियो...' नामक गीतों की प्रस्तुति की। मेले में क्रान्तिकारियों के जीवन पर फोटो प्रदर्शनी व पुस्तक प्रदर्शनी भी लगायी गयी थी। इन प्रदर्शनियों ने लोगों को काफ़ी आकर्षित किया।

मेले का संयोजन नौजवान भारत सभा के आशीष कुमार ने किया। अन्त में, आशीष ने कहा कि स्मृति संकल्प यात्रा के तहत ऐसे कार्यक्रम अगले डेढ़ वर्षों तक भी जारी रहेंगे। ऐसे मेले और सांस्कृतिक कार्यशालाएँ आयोजित करके नौजवानों और बच्चों में बेहतर मानवीय मूल्य, तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि और इंसाफ़पसन्दगी के उसूल पैदा करने का काम जारी रखा जाएगा।

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) के अवसर पर विचार गोष्ठी

दिल्ली। नौजवान भारत सभा ने 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर एक परिचर्चा का आयोजन किया। परिचर्चा का विषय 'इक्कीसवीं सदी और महिलाओं की स्थिति' था।

कार्यक्रम की शुरुआत करते हुए योगेश ने नारी सभा के पर्चे 'बहनो आओ! साथियो आओ!' को पढ़कर सुनाया। इस पर्चे में हज़ारों साल से पितृसत्ता के जुए तले दबी औरतों का आह्वान किया गया है कि वे इस बोझ को अपने कन्धों से उतार फेंकें। आज स्त्रियाँ पितृसत्ता और पूँजीवाद दोनों की मार झेल रही हैं।

परिचर्चा में अपनी बात रखते हुए नौभास के प्रेमप्रकाश ने महिलाओं की स्थिति पर ऐतिहासिक नज़रिये से अपनी बात रखी। उन्होंने कहा कि एक ऐसा समय भी था जब महिलाएँ गुलाम नहीं थीं और दुनिया पर उनका बराबर का हक़ था। लेकिन निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के उदय के साथ और श्रम विभाजन के गहराते जाने के साथ महिलाओं की अधीनता की शुरुआत हुई।

ओलेग ने सामाजिक अपराधों का शिकार महिलाओं पर अपनी बात रखते हुए कहा कि महिलाओं की स्थिति जानने के लिए यह तथ्य ही पर्याप्त है कि हर 3 मिनट पर एक स्त्री का बलात्कार होता है और हर 77 मिनट पर एक स्त्री जलाकर मार दी जाती है। दीपक ने बताया कि कामकाजू महिलाओं की स्थिति तो और भी ख़राब है। एक ओर तो उनका श्रम सस्ता होता है वहीं दूसरी ओर उन्हें उद्योगों में सबसे महीन और मुश्किल काम करने पड़ते हैं। फिर घर में पुरुष की गुलामी उनके जीवन और असह्य बना देती है।

नौभास की सीता ने कहा कि महिलाओं को विज्ञापनों के जरिये उपभोक्ता सामग्री बनाकर बेचा जाता है। यह एक नये प्रकार की गुलामी है जो आज़ादी के भेस में आयी है। सामन्ती किस्म की पितृसत्ता की जगह अब पूँजीवादी पितृसत्ता और पैसों की गुलामी ने ले ली है। सीता ने स्पष्ट किया कि महिलाओं की मुक्ति की लड़ाई पुरुषों के ख़िलाफ़ नहीं हैं और सारे पुरुष महिलाओं के शत्रु हों, ऐसा कतई नहीं है। यह लड़ाई पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ है।

कार्यक्रम का संचालन कर रहे आशीष ने बताया कि आम घरों में और मेहनतकशों के घरों में महिलाओं और पुरुषों का जो अन्तरविरोध है उसे हमें दोस्ताना अन्तरविरोध के रूप में सुलझाना होगा जिसके लिए एक सांस्कृतिक संघर्ष की ज़रूरत होगी। असली अन्तरविरोध इस पूँजीवादी व्यवस्था से है जो ग़रीबों और मेहनतकशों को लूटती है, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, दलित हों या सवर्ण, दिल्ली के हों या बिहारी, यूपी के हों या महाराष्ट्र के, कोई भी भाषा बोलते हों। सभी ग़रीब स्त्रियों और पुरुषों को अपने अन्तरविरोधों को दोस्ताना ढंग से हल करना होगा और विशेष रूप से पुरुषों को यह समझना होगा कि स्त्रियाँ आधी ज़मीन और

आधा आसमान हैं। वे किसी भी मायने में उनसे कम नहीं हैं।

इस अवसर पर नौजवान भारत सभा की तरफ़ से एक पर्चा 'जी हाँ! बाज़ार में रिश्ते भी बिकते हैं!' भी निकाला गया जिसमें दहेज लोभियों को धिक्कारा गया है और उनके सामाजिक बहिष्कार का आह्वान किया गया है। आशीष ने बताया कि भगतसिंह के सपनों का भारत तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक आधी आबादी गुलाम है। साथ ही स्त्रियाँ भी मेहनतकश अवाम की लड़ाई के साथ अपनी आज़ादी की लड़ाई को जोड़कर ही मुक्त हो सकती हैं।

निठारी काण्ड के ख़िलाफ़ पूरे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्रा में सघन एवं व्यापक पर्चा वितरण

दिल्ली, नोएडा, ग़ाज़ियाबाद। निठारी में बच्चों की बर्बर हत्या और नरभक्षण के ख़िलाफ़ नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन और हण्ड्रेड फ्लावर्स मार्क्सवादी अध्ययन मण्डल ने दिल्ली के तमाम मज़दूर इलाकों, कालोनियों, कॉलेजों, स्कूलों आदि में एक पर्चा बाँटा। इस पर्चे को लेकर दिशा और नौभास की टोलियों ने नुक्कड़ों-चौराहों, गलियों-मुहल्लों और कॉलोनियों में व्यापक जनसभाएँ कीं।

इन सभाओं में साफ़ तौर पर कहा गया कि निठारी की घटना आज के समाज की कोई आम घटना नहीं है और न ही यह महज प्रातिनिधिक घटना है। यह इस पूँजीवादी समाज, सभ्यता, संस्कृति और व्यवस्था की एक प्रतीक घटना है। यह हालिया वर्षों में भारत में ही नहीं पूरी दुनिया के पूँजीवाद के अन्तर्गत होने वाली सम्भवतः सबसे बर्बर घटना है, जहाँ मुनाफ़े और शरीर की हवस मिटाने के लिए एक पूँजीपति बच्चों का बलात्कार करता था और उन्हें मारकर खाता था। यह घटना दिखलाती है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत लोभ-लालच और हवस किस तरह पूँजीपतियों को भी मानव होने की शर्तों से वंचित कर देती है। किस तरह पूँजीपति कारखानों में मज़दूरों के शरीर से रक्त की एक-एक बूँद निचोड़ने के बाद भी अपनी हवस मिटा नहीं पाता और फिर उनके बच्चों के साथ ऐसा बर्ताव करता है। इस घटना ने पूँजीवाद के हर मुखौटे को उतार दिया है। इस घटना ने पूँजीपति वर्ग और उसके हर चाकर–पुलिस, नेता, अफ़सर–और साथ ही साथ न्यायपालिका को भी बेनक़ाब कर दिया है। सुप्रीम कोर्ट का बयान आया कि निठारी काण्ड पुलिस सुधारों के लागू न हो पाने के कारण हुआ। यह पूरा तर्क ही बेहद बचकाना है। सवाल यह है कि वह कौन सा समाज है जो ऐसे दरिन्दों को पैदा करता है जो बच्चों तक का भक्षण कर जाएँ।

जगह-जगह चायखानों, नुक्कड़ों, सैलून और खाने-पीने की दुकानों में भीड़ जुटाकर लोगों को इस पर्चे को पढ़कर सुनाया गया। लोगों में इस घटना को लेकर ज़बर्दस्त रोष था।

दिशा छात्र संगठन ने कॉलेजों में कक्षाओं में जा-जाकर इस पर्चे का वितरण किया और छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा कि यह सिर्फ़ निठारी के पीड़ित माता-पिताओं से सरोकार रखने वाला मुद्दा नहीं है। यह हर संवेदनशील दिल को झकझोर देने वाला मुद्दा है और इस घटना के बाद हर नौजवान को सोचना चाहिए कि वह किस समाज में प्रशासनिक सेवाओं में जाना चाहता है? जिस समाज की कानून और व्यवस्था का अर्थ मेहनतकशों के बच्चों का मांसभक्षण है? जिस समाज में अस्सी फीसदी जनता पूँजीपतियों की हर भूख को मिटाने के लिए मजबूर की जाती है? ऐसी व्यवस्था को बदलने के बारे में सोचना और उसे ख़त्म कर देने के बारे में सोचना हर नौजवान दिल की फ़ितरत होनी चाहिए। इस पर्चे पर कक्षाओं में, कैण्टीनों में और तमाम सार्वजनिक स्थानों पर काफ़ी बहसें हुई और लोगों ने इस बात पर सहमति जताई कि यह इस व्यवस्था की बुनियादी रुग्णता है जो इस प्रकार की घटनाओं को जन्म देती है।

नौजवान भारत सभा ने जलाई बुराइयों की होलिका

दिल्ली। 3 मार्च को होलिका दहन के दिन नौजवान भारत सभा और बच्चा पार्टी ने बिल्कुल अलग अंदाज़ में होलिका दहन किया। बच्चों और नौजवानों ने यह निर्णय लिया कि स्मृति संकल्प यात्रा की मुहिम के तहत ही इस होली पर परम्परागत और औपचारिक ढंग से होने वाले होलिका दहन को सामाजिक बुराइयों के पुतला दहन में बदल दिया जाय और पुतला दहन से पहले पुतले को लेकर पूरे अंकुर एंक्लेव और मुकुन्द विहार के इलाके में जुलूस निकाला जाय। बच्चों और नौभास के कार्यकर्ताओं ने मिलकर बुराइयों का पुतला तैयार किया जिसपर दहेज, पारिवारिक हिंसा, छुआछूत, पाखण्ड, अश्लीलता, जातिगत भेदभाव, धार्मिक भेदभाव, शराबखोरी आदि लिखा गया।

इसके बाद बच्चों ने बच्चा पार्टी के संयोजक तुषार के नेतृत्व में पुतले को लेकर जुलूस निकालना शुरू किया। बच्चे 'नशाखोरी-दूर भगाओ', 'ढोंग-पाखण्ड मार भगाओ', 'जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो-सही लड़ाई से नाता जोड़ो', 'आज के हम बच्चे, कल के हम नौजवान-भारत को बदलने में देंगे अपना योगदान', आदि जैसे नारे लगाते हुए गली-गली से गुज़र रहे थे। बच्चे जिस गली से गुज़रते वहीं से कुछ बच्चे उनके साथ शामिल हो जाते। साथ ही, इन बच्चों के माता-पिता भी यह देखने के लिए पीछे-पीछे हो लिए कि आख़िर ये बच्चे कर क्या रहे हैं?

यह जुलूस एक ख़ाली मैदान में समाप्त हुआ जहाँ जाकर बच्चों ने पुतले को गाड़ दिया और फिर नारेबाज़ी की। इसके बाद बच्चा पार्टी के बच्चों ने 'प्यार बाँटते चलो' नामक गीत गाया। इसे सुनकर आस-पास के घर से लोग बाहर निकल आये। फिर तुषार ने जुलूस निकालने की वजह पर अपनी बात रखते हुए कहा कि होली के दिन लोग शराब पीकर हो-हल्ला करते हैं, घरों में मारपीट करते हैं, अश्लीलता करते हैं, यह रुकना चाहिए। तुषार ने कहा कि सच्ची होलिका दहन आज समाज की बुराइयों के दहन के साथ ही हो सकती है। उसी के प्रतीक के तौर पर हम सामाजिक बुराइयों का होलिका दहन कर रहे हैं।

इस समय तक कार्यक्रम स्थल पर करीब 80 बच्चे और कइयों के माता-पिता इकट्ठा हो चुके थे। इसके बाद पुतले को जलाया गया और नारेबाज़ी की गयी। इसके बाद सारे लोगों ने एक-दूसरे के माथे पर गुलाल लगाया और गले मिले। और इस तरह सामाजिक अलगाव को भेदता हुआ एक सामाजिक उत्सव मनाया गया।

नौजवान भारत सभा, करावलनगर इकाई का चुनाव सम्पन्न

करावलनगर, दिल्ली। नौजवान भारत सभा करावलनगर इलाके में पिछले 4 वर्षों से काम कर रही है। इसने इलाके के लोगों के हर संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर साथ दिया है और इन संघर्षों को सक्षम नेतृत्व दिया है, चाहे वह हिरासत में मौत का मुद्दा हो, सड़क निर्माण का मुद्दा हो या साफ़-सफ़ाई के अधिकार का मुद्दा हो।

नौजवान भारत सभा, करावलनगर इकाई औपचारिकीकरण समारोह का एक दृश्य

लम्बे समय से नौजवान भारत सभा के सदस्यता ढाँचे के औपचारिकीकरण का काम चल रहा था जो अंततः 25 फरवरी, 2007 को सम्पन्न हो गया। इस दिन नौजवान भारत सभा मुकुन्द विहार-अंकुर एंक्लेव इकाई का चुनाव हुआ। इससे पहले मुकुन्द विहार और अंकुर एंक्लेव में घर-घर जाकर सदस्यता अभियान चलाया गया जिसमें करीब 45 नौजवान नौभास के सदस्य बने। इसके बाद 25 फरवरी को चुनाव का आयोजन हुआ। इस चुनाव में योगेश को नौभास की इस इकाई का सचिव और संजय को उपसचिव चुना गया। तर्कप्रसार प्रकोष्ठ के प्रभारी के तौर पर आशु और सहायक के तौर पर रेनू को चुना गया। सांस्कृतिक प्रकोष्ठ के प्रभारी प्रदीप और सहायक नीरज चुने गये। खेलकूद प्रकोष्ठ के प्रभारी दीपक और सहायक तरुण चुने गये। अध्ययन प्रकोष्ठ का प्रभारी आशीष और सहायक प्रेमप्रकाश को चुना गया।

इसके बाद 1 मार्च को चुने गये पैनल की पहली बैठक हुई जिसमें मार्च माह के लिए स्मृति संकल्प यात्रा के तहत लिया जाने वाला कार्यक्रम बनाया गया और ज़िम्मेदारियाँ तय की गयीं।

मर्यादपुर, मऊ में नागरिक अधिकारों के लिए ज़बर्दस्त संघर्ष

ग्राम पंचायत और सरकारी मशीनरी की मिलीभगत से होने वाली जनसंसाधनों की लूटखसोट के ख़िलाफ़ और अपने बुनियादी अधिकारों के लिए ग्राम सभा मर्यादपुर के सैंकड़ों ग़रीब मेहनतकशों ने विगत 23 फरवरी को मधुबन तहसील मुख्यालय पर बिगुल मज़दूर दस्ता, देहाती मज़दूर यूनियन और नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में ज़ोरदार धरना प्रदर्शन किया और उपजिलाधिकारी को सोलह-सूत्री मांगपत्रक सौंपा।

माँगपत्रक में राशनकार्ड, किरासन व खाद्यान्नों के वितरण में धाँधली की जाँच कर पात्र व्यक्तियों को उचित राशन कार्ड व निर्धारित मात्रा में अनाज व किरासन तेल का वितरण सुनिश्चित कराने, विधवा पेंशन, वृद्धावस्था पेंशन व निर्बल आवास योजना की धाँधलियों की जाँच कर पात्र लोगों को योजना का लाभ सुनिश्चित कराने के साथ ही इन तमाम धाँधलियों में लिप्त लेखपाल सेक्रेटरी को बर्खास्त करने की माँग शामिल थी। इसके अलावा स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने के लिए डीप बोर हैण्डपम्प लगाने, बन्द पड़े जच्चा-बच्चा केन्द्र को चालू करने, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोलने, सार्वजनिक उपयोग की भूमि को निजी कब्ज़े से आज़ाद करने की माँगें भी प्रमुख रूप से शामिल थीं।

इससे पहले सैंकड़ों की संख्या में ट्रैक्टरों और ट्रॉलियों में सवार होकर प्रदर्शनकारी धरनास्थल के पास एकत्र हुए और फिर ज़ोरदार सभा की। इसमें सांस्कृतिक कार्यक्रम भी पेश किया गया। इस सभा के दौरान देहाती मज़दूर यूनियन के डा. दूधनाथ ने कहा कि अभी तो हम लोगों ने सिर्फ़ ग्राम पंचायतों और सरकारी मशीनरी की लूट के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी है, अपने बुनियादी अधिकारों के लिए ललकारा है, लेकिन आने वाले दिनों में देश में देशी-विदेशी पूँजी की लूट के ख़िलाफ़ एक देशव्यापी संघर्ष की हमें शुरुआत करनी होगी और भगतसिंह के सपनों के भारत के निर्माण की ओर बढ़ना होगा।

धरना स्थल पर क्रान्तिकारी लोकगीतों के जरिये भी लेखपाल-सेक्रेटरी-प्रधान की लूटखसोट को उजागर किया गया और मेहनतक़शों की एकता के लिए आह्वान किया गया। इस धरने में व्यापक पर्चा वितरण भी किया गया। प्रदर्शन के दौरान 'मेहनतकश जब जागेगा, तब नया सवेरा आएगा', 'ख़त्म करो पूँजी का राज-लड़ो बनाओ लोकस्वराज्य', 'गाँव के ग़रीबों ने दी है आवाज़-नहीं चलेगा लूट का राज' और 'सारी सत्ता मेहनतक़श को' आदि जैसे नारे लगाए जा रहे थे।

इस प्रदर्शन में गोरखपुर विश्वविद्यालय से आये दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने भी बढ़चढ़कर शिरकत की।

जन्मदिवस (29 मार्च) के अवसर पर

युवा इटली

• मक्सिम गोर्की

मखमली कपड़े पहने हुए रात दबे पाँव मैदान से नगर में प्रवेश कर रही है। नगर सुनहरी, जगमगाती बत्तियों से उसका स्वागत कर रहा है। दो नारियाँ और एक युवक भी मानो रात का अभिनन्दन करते हुए मैदान में चले जा रहे हैं। उनके पीछे-पीछे दिन भर की दौड़-धूप से थका-हारा हुआ ज़िन्दगी का धीमा-धीमा शोर सुनाई दे रहा है।

रोम के अनेक कबीलों के गुलामों द्वारा बनाई गई प्राचीन सड़क की काली-काली टाइलों पर तीन व्यक्तियों के पैरों की धीमी-धीमी आहट सुनाई दे रही है। प्यारी ख़ामोशी में एक नारी की स्नेहमयी और दृढ़ आवाज़ सुनाई देती है :

"लोगों के साथ तुम्हें कड़ाई से पेश आना चाहिए..."

"क्या तुमने मुझमें कभी कोई ऐसी बात देखी है, माँ?" युवक ने पूछा।

"तुम बहुत ही जोश से बहस करते हो..."

युवक के बाईं ओर पत्थरों पर खड़ाउओं को घसीटती और सिर को ऊपर उठाकर आकाश को ऐसे ताकती हुई, मानो अंधी हो, एक युवती चल रही है। आकाश में सन्ध्या का बड़ा-सा सितारा चमक रहा है, उसके नीचे डूबते सूरज की हलकी-सी लाल धारी है और इस लाली की पृष्ठभूमि में चिनार के दो पेड़ बिना जली मशालों जैसे लग रहे हैं।

"समाजवादियों को अक्सर जेलों में बन्द कर दिया जाता है" माँ ने आह भर कर कहा।

"हमेशा ऐसा ही नहीं होगा। आख़िर इससे कोई फ़ायदा तो होता नहीं..." बेटे ने शान्तिपूर्वक जवाब दिया।

"सो तो ठीक है, लेकिन फ़िलहाल..."

"न तो ऐसी ताक़त आज है और न कभी होगी जो दुनिया के जवान दिल को कुचल सके..."

"गीत के लिए ये शब्द बड़े सुन्दर हैं, मेरे बेटे..."

"लाखों-करोड़ों कण्ठ इस गीत को गाते हैं और पूरी दुनिया ही अधिकाधिक ध्यान से इसे सुन रही है...ज़रा याद करके बताओ– क्या तुम भी पहले कभी इतने धीरज और प्यार से मेरी या पाओलो की बातें सुनती थीं?"

"यह ठीक है। लेकिन...हड़ताल ने तुम्हें अपना जन्म नगर छोड़ने को मजबूर कर दिया न..."

"दो के लिए वह काफ़ी बड़ा नहीं। अच्छा है कि पाओलो ही यहाँ रहे। लेकिन हड़ताल तो हमने जीत ली..."

"जीत ली," युवती ने ज़ोर देकर कहा, "तुमने और पाओलो ने..."

अपनी बात अधूरी छोड़कर वह धीरे से हँस दी और फिर क्षण भर को तीनों चुपचाप चलते रहे। अन्धेरे में एक टीला-सा उभरकर सामने आ गया। वास्तव में, वह किसी इमारत के खण्डहरों का ढेर था। उसके ऊपर सफेदे के पेड़ की पतली-पतली शाखाएँ विचारमग्न-सी लटकी थीं। ये तीनों जब पेड़ के करीब पहुँचे तो उसकी शाखाएँ मानो धीरे-से सिहरीं।

"लो–वह रहा पाओलो," युवती ने कहा।

लम्बे कद की काली-सी आकृति खण्डहरों में से निकलकर सड़क के बीच आ खड़ी हुई।

"मन की आँखों से देख लिया था क्या?" युवक ने हँसते हुए पूछा।

सामने से भारी आवाज़ गूँजी :

"तो जा रहे हो?"

"हाँ। और ये रही—मेरी माँ तथा बहन जिनकी तुम्हें देखभाल करनी होगी। तुम लोग अब मेरे साथ आगे नहीं चलो, इसकी ज़रूरत नहीं है। रोम तक पहुँचने में मुझे सिर्फ़ पाँच घण्टे लगेंगे और मैं जान-बूझकर पैदल जा रहा हूँ, ताकि रास्ते में कुछ सोच-विचार कर सकूँ..."

सब रुक गये... लम्बे कद वाले ने अपना टोप उतार लिया और तनिक आर्द्र आवाज़ में कहा :

"माँ और बहन के बारे में तुम्हें चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं—इन्हें कोई कष्ट नहीं होगा!"

"मैं जानता हूँ। विदा, माँ!"

माँ धीमे-से सिसकी और कराही, इसके बाद तीन ज़ोरदार चुम्बन और मर्दाना आवाज़ में ये शब्द सुनाई दिये :

"घर जाकर चैन से आराम करो। इन तूफ़ानी दिनों में काफ़ी चिन्ता कर चुकीं! जाओ, परेशान होने की कोई बात नहीं! पाओलो भी तो तुम्हारे लिए मेरे जैसा ही बेटा है! तो प्यारी बहन, अब तुमसे भी..."

फिर से चुम्बन और पत्थरों पर पैरों की खरखरी आहट सुनाई दी। रात की सधी-बँधी नीरवता सारी ध्वनियों को दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित कर रही थी।

अन्धेरे की चादर में लिपटी हुई चार आकृतियाँ एक-दूसरे में सिमटकर एक बड़ा शरीर बन गयीं और देर तक अलग नहीं हो पायीं। आख़िर चुपचाप अलग हुईं—तीन आकृतियाँ धीरे-धीरे नगर की बत्तियों की ओर चल दीं और एक आकृति तेज़ी से कदम उठाती हुई आगे, पश्चिम की ओर बढ़ चली जहाँ संध्या की लाली लुप्त हो चुकी थी और नीले आकाश में अनेकानेक उज्ज्वल सितारे जगमगा उठे थे।

दूरी से आशा पैदा करती हुई यह आवाज़ आयी :

"विदा! उदास नहीं होना, जल्द ही मिलेंगे..."

लकड़ी की खड़ाऊँ ठक-ठक की आवाज़ करते हुए बज रही थी, खरखरी आवाज़ वाले ने तसल्ली देते हुए ये शब्द कहे

"उसके साथ सबकुछ ठीक-ठाक रहेगा, दोन्ना फिलोमेना। मेरी इस बात पर आप वैसे ही विश्वास कर सकती हैं जैसे अपनी मदोन्ना की कृपा पर। उसके पास अच्छा दिमाग़ और मज़बूत दिल है, वह खुद प्यार करना जानता है और आसानी से दूसरों को अपने से प्यार करने को विवश कर सकता है...और लोगों के प्रति प्यार ही तो वे पंख हैं जो आदमी को सबसे अधिक ऊँचाई पर पहुँचा देते हैं..."

नगर अन्धेरे में अपनी छोटी-छोटी और मन्द रोशनी वाली बत्तियों को बढ़ाता जा रहा था और लम्बे कद के व्यक्ति के शब्द भी रोशनियों की तरह ही चमकते थे।

"यह किसी व्यक्ति के हृदय में दुनिया को एकजुट करने वाले शब्द होते हैं तो उसे हर जगह उसका ऊँचा मूल्य आँकने वाले लोग भी मिल जाते हैं—हर जगह ही!"

नगर की रक्षा दीवार से सटा हुआ एक छोटा-सा सफ़ेद भटियारखाना अपने रोशन दरवाज़े की चौकोर आँखों से लोगों को मानो अपनी ओर खींच रहा था। दरवाज़े के निकट ही छोटी-छोटी तीन मेज़ों पर काली-काली आकृतियाँ हो-हल्ला मचा रही थीं, गिटार के तारों के दर्द भरे स्वर निकल रहे थे, मैण्डोलिन की काँपती-सिहरती ध्वनियाँ गूँज रही थीं।

ये तीनों प्राणी जब दरवाज़े के निकट पहुँचे तो संगीत बन्द हो गया, आवाज़ें धीमीं हो गयीं और उनमें से कुछ लोग उठकर खड़े हो गये...

"नमस्ते साथियो!" लम्बे कद वाले ने कहा।

और कोई दसेक आवाज़ों ने खुशी तथा हार्दिकता से जवाब दिया :

"नमस्ते, साथी पाओलो! हमारे पास आये हैं? शराब का एकाध जाम?"

"नहीं...धन्यवाद!"

माँ ने गहरी साँस लेकर कहा :

"हमारे सभी लोग तुम्हें भी बेहद प्यार करते हैं..."

"हमारे सभी लोग, यही कहा है न आपने, दोन्ना फिलोमेना?"

"ऐ, मेरी बात की हँसी नहीं उड़ाओ...अपनी जनता से मैं अपरिचित-अजनबी नहीं हूँ...तुमको और उसको सभी प्यार करते हैं..."

लम्बे नौजवान ने युवती का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा:

"सभी और एक यह भी...ठीक है न?"

"हाँ", युवती ने धीमे से कहा। "बेशक ठीक है..."

माँ तनिक हँस दी:

"ओह, मेरे बच्चों!...जब तुम्हारी बातें सुनती हूँ और तुम लोगों को देखती हूँ तो यह यक़ीन हो जाता है कि तुम लोगों की ज़िन्दगी हमसे बेहतर होगी..."

और तीनों पास ही में नगर की सड़क पर आँखों से ओझल हो गये जो पुरानी और घिसी-फटी पोशाक की आस्तीन की तरह तंग और खस्ताहाल थी...

भगतसिंह ने कहा

"हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध छिड़ा हुआ है और यह युद्ध तब तक चलता रहेगा, जब तक कि शक्तिशाली व्यक्ति भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधनों पर अपना एकाधिकार जमाए रखेंगे। चाहे ऐसे व्यक्ति अंग्रेज पूँजीपति, अंग्रेज शासक या सर्वथा भारतीय ही हों। उन्होंने आपस में मिलकर एक लूट जारी कर रखी है। यदि शुद्ध भारतीय पूँजीपतियों के द्वारा ही निर्धनों का खून चूसा जा रहा हो तब भी इस स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता।"

(फाँसी से तीन दिन पूर्व भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव द्वारा फाँसी की बजाय गोली से उड़ाए जाने की माँग करते हुए पंजाब के गवर्नर को लिखे गए पत्र का एक अंश।)

कैम्पसों का बदलता वर्ग चरित्र और छात्र-युवा आन्दोलन की चुनौतियाँ

(पेज 6 से जारी)

परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर नयी योजनाएँ बनाकर सकारात्मक में तब्दील किया जा सकता है। ठीक उसी तरह छात्रों-युवाओं को संगठित करने के कामों की मुश्किलों को भी सकारात्मक में बदला जा सकता है। यह सच है कि आज अलग से कोई छात्र आन्दोलन सम्भव नहीं है। तो आज हमें करना क्या होगा?

आज हमें सिर्फ़ छात्र आन्दोलन के बारे में नहीं बल्कि छात्र-युवा आन्दोलन के बारे में सोचना होगा। हमें कैम्पसों के बाहर पड़ी उस विशाल युवा आबादी को जोड़ना होगा जो बेरोज़गार घूम रही है, छोटे-मोटे काम कर रही है, छोटी-मोटी प्रतियोगी परीक्षाएँ दे रही है, या ज़िन्दगी की कोई राह तलाश रही है। ऐसी नौजवान आबादी को संगठित करने के लिए हमें निम्न मध्यवर्गीय कालोनियों, बस्तियों में जाना होगा और उनके बीच सांस्कृतिक कार्य करते हुए, वहाँ के नागरिक अधिकारों को लेकर लड़ते हुए, सुधार कार्य करते हुए, दमन-उत्पीड़न के तमाम रूपों के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए उन्हें गोलबन्द और संगठित करने का काम करना होगा। हमें उनके बीच रहते हुए उनमें अंधविश्वासों, रूढ़ियों के ख़िलाफ़ संघर्ष करना होगा और उनके बीच तार्किकता का प्रचार करना होगा। साथ ही हमें उनके रोज़मर्रा के संघर्षों में उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ना होगा। इसके अतिरिक्त, हमें लगातार उनके बीच राजनीतिक प्रचार करना होगा और विकल्प की बात करनी होगी। हमें उनके बीच संगठन बनाने होंगे और उनके बीच एक वर्ग एकजुटता कायम करनी होगी।

लेकिन हमें कैम्पस को छोड़ नहीं देना होगा। वहाँ हमें आम मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग के उन तमाम युवाओं को संगठित करना होगा जो किसी तरह कैम्पस में पहुँच पा रहे हैं। इसके साथ ही हमें उच्च और खाते-पीते मध्यवर्ग के उन नौजवानों को भी खोजना होगा जो इस हद तक संवेदनशील और न्यायप्रिय हैं कि अपने वर्ग हितों का त्याग करके अपने सपनों और आकांक्षाओं को इस देश की उस बहुसंख्यक आम मेहनतकश आबादी के सपनों और आकांक्षाओं के साथ जोड़ सकते हैं, जो उनके अस्तित्व की भी हर शर्त को पूरा कर रही है लेकिन जो उनकी तरह अपने बच्चों को कॉलेजों-कैम्पसों में नहीं भेज सकती। हमारा मानना है कि हमारे देश ने ऐसे नौजवानों को पैदा करना अभी बन्द नहीं किया है। और भारत में इंक़लाब के किसी भी प्रोजेक्ट की तैयारी में आज शुरुआती दौर में ऐसे नौजवानों की बेहद ज़रूरत है जो सक्षम संगठनकर्ता की भूमिका को निभा सकें; जिनके पास इतिहास, समाज और विज्ञान का ज्ञान हो। ऐसे में कैम्पस से आने वाले, अपने वर्ग से अलग होकर मेहनतक़श वर्गों के पक्ष में आकर खड़े होने वाले इन युवाओं की एक ख़ास भूमिका बन जाती है। ऐसे छात्रों को हमें लगातार कैम्पस में जोड़ना होगा और उन्हें लेकर मज़दूर बस्तियों, निम्न मध्यवर्गीय कालोनियों, कारखाना गेटों आदि पर जाना होगा और शहीदे-आज़म भगतसिंह के उसी सन्देश पर अमल करना होगा कि आज देश के छात्रों-युवाओं को क्रान्ति के सन्देश को लेकर इस देश की मज़दूर बस्तियों, गाँव की जर्जर झोंपड़ियों, कारखानों आदि में जाना होगा। कैम्पस में और उसके बाहर भी, छात्र-युवा आन्दोलन की केन्द्रीय माँग आज एक ही हो सकती है– **'सबको समान एवं निःशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार'**। इससे कम हम किसी माँग को भी सुधारवादी और उदारवादी मानते हैं। इस मुद्दे पर होने वाला संघर्ष ही हमें आगे की राह दिखाएगा। इस माँग पर छात्र-युवा आन्दोलन ही हमें और बुनियादी मुद्दों तक लेकर जाएगा। आज के समय का सही संघर्ष इसी माँग को लेकर हो सकता है।

यह सच है कि यह माँग इस व्यवस्था के भीतर रहते पूरी नहीं हो सकती है। लेकिन इस बात को व्यापक छात्र-युवा आबादी व्यवहार से ही समझ सकेगी। छात्रों-युवाओं के बीच के उन्नत तत्व तो शुरू से ही उस व्यापक संघर्ष की तैयारी में लग जाएँगे जो इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ है, लेकिन आम छात्र-युवा आबादी शिक्षा और रोज़गार के मुद्दे को लेकर संघर्ष करते हुए ही इस सच्चाई को समझ सकती है कि इस व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर रहते हुए इस सबको शिक्षा और सबको रोज़गार की माँग पूरी नहीं हो सकती।

इसलिए हमें कुछ बातों को नुक्तेवार समझ लेना होगा। एक, आज सिर्फ़ छात्र आन्दोलन की सम्भावनाएँ कैम्पस का वर्ग चरित्र बदलने के कारण नगण्य हो गयी हैं। दो, आज हमें कैम्पस के बाहर मौजूद व्यापक आम युवा आबादी को गोलबन्द और संगठित करना होगा और एक युवा आन्दोलन को खड़ा करके उसे छात्र आन्दोलन से जोड़ना होगा। तीन, आज छात्र-युवा आन्दोलन की केन्द्रीय माँग सबको समान एवं निःशुल्क शिक्षा व सबको रोज़गार ही हो सकता है। चार, इस पूरी प्रक्रिया में हमें बुर्जुआ चुनावी राजनीति और एन.जी.ओ. राजनीति को बेनक़ाब करना होगा और उससे दूर रहना होगा। इन नुक्तों पर अमल करके ही हम कैम्पसों के बदलते वर्ग चरित्र के कारण उपस्थित चुनौतियों का मुकाबला कर सकते हैं और सामाजिक बदलाव के नये झंझावाती संस्करण रच सकते हैं। ●

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) के अवसर पर

लहरें

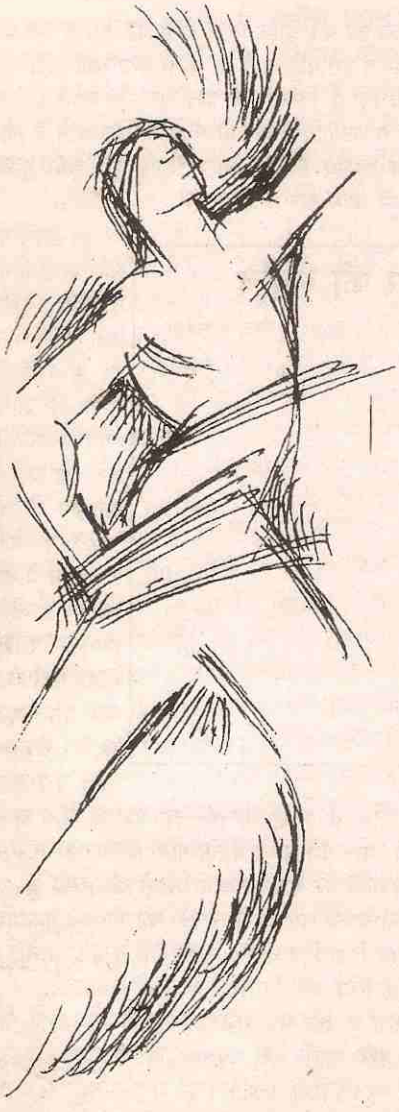

मैं हुआ करती थी एक ठंडी, पतली धारा
बहती हुई जंगलों,
पर्वतों और वादियों में
मैंने जाना कि
ठहरा हुआ पानी भीतर से मर जाता है
मैंने जाना कि
समुद्र की लहरों से मिलना
नन्ही धाराओं को नयी जि□न्दगी देना है
न तो लम्बा रास्ता, न तो अँधेरे खड्ड
न रुक जाने का लालच
रोक सके मुझे बहते जाने से
अब मैं जा मिली हूँ अन्तहीन लहरों से
संघर्ष में मेरा अस्तित्व है
और मेरा आराम है - मेरी मौत।

– मर्ज़िएह ओस्कोई

(ईरानी क्रान्तिकारी कवयित्री जिनकी शाह-ईरान के एजेंटों ने हत्या कर दी थी)

दुनिया में 30 करोड़ नौजवान ग़रीबी रेखा के नीचे : विश्व पूँजीवाद हमें यही दे सकता है!

● कपिल

समाचारपत्रों के बिज़नेस वाले पेज से लेकर सम्पादकीय पृष्ठों तक छपने वाले लेखों में आजकल विश्वव्यापी विकास की शानदार तस्वीर प्रस्तुत की जा रही है। लेकिन पिछले दिनों आयी विश्व श्रम संगठन की रिपोर्ट ने ही इस विकास के ढोल की पोल खोल दी। रिपोर्ट में सामने आये तथ्यों ने जहाँ एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था में हो रहे खोखले विकास की हवा निकाल दी है वहीं इनसे आने वाले समय में संकट के गहराते जाने के संकेत भी मिलते हैं।

रिपोर्ट पिछले दस वर्षों (1995-2005) के दौरान युवाओं में बढ़ती जा रही बेरोज़गारी के बारे में है। इसमें दिये गये आँकड़े आँख खोल देने वाले हैं। मसलन, यह रिपोर्ट बताती है कि युवाओं में बेरोज़गारी 14.8 प्रतिशत की द्रुत गति से बढ़ती जा रही है। और आज पूरी दुनिया में 30 करोड़ नौजवान ग़रीबी रेखा से नीचे जीवन जी रहे हैं। बेरोज़गारी की यह भयावह तस्वीर विकासशील देशों के सामने सबसे साफ़ तौर पर दिखलाई दे रही है। काम कर रहे युवाओं में से भी 56 प्रतिशत ग़रीबी की मार झेल रहे हैं और आशंका जतायी गयी है कि इन्हें भी भविष्य में काम के घण्टे बढ़ाने, कम वेतन, न्यनतम प्रशिक्षण, बिना किसी सामाजिक सुरक्षा या नाममात्र की सामाजिक सुरक्षा के साथ अस्थायी या अनौपचारिक ठेकों पर काम करने के लिए मजबूर किया जा सकता है।

रिपोर्ट पूरी ईमानदारी से विश्व पूँजीवाद को सुझाव देती और चेताती है कि सावधान हो जाओ! शुरुआती वक्त में अच्छा काम न मिल पाने पर युवाओं का बेहतर भविष्य का सपना ज़िन्दगी भर के लिए धूल में मिल सकता है। यह भी बताया गया है कि अब मुद्दा रोज़गार संतुष्टि का नहीं बल्कि रोज़गार सुरक्षा का है। सबसे बड़ा संकट यह है कि उच्च शिक्षा के बावजूद बेहतर रोज़गार अब एक सपना बनता जा रहा है।

यह रिपोर्ट विश्वव्यापी चहुँमुखी विकास के झूठे दावों की हक़ीकत बयान कर देती है। अब यह एक दीगर बात है कि ऐसा वह विश्व पूँजीवाद को थोड़ा सुधर जाने का सुझाव देने के लिए करती है। लेकिन इस प्रक्रिया में वह सभी यथास्थितिवादी बौद्धिकों और अर्थशास्त्रियों के विकास की दावों की पोल खोल देती है और साथ ही उन सुधारवादियों का भी पर्दाफाश कर देती है जो 'एक दूसरी दुनिया सम्भव है' का नारा लगाते हुए इसी दुनिया में पैबन्दसाज़ी का काम कर रहे हैं।

1999-2005 के दौरान रोज़गार की स्थिति

15-24 वर्ष की आबादी	प्रतिशत	संख्या (करोड़)
1. बेरोज़गारी वृद्धि दर	*14.8*	-
2. युवा आबादी की वृद्धि दर	*13.2*	-
3. रोज़गार के अवसरों में वृद्धि	*3.8*	-
4. कुल कार्यशील जनसंख्या में युवाओं का प्रतिशत	*25*	-
5. युवाओं में बेरोज़गारी का प्रतिशत	*44*	-
6. वर्तमान बेरोज़गारी	-	*8.50*
7. गरीबी रेखा के नीचे युवा आबादी	-	*30*
8. वर्तमान युवा शक्ति का उपयोग करने के लिए रोज़गार की आवश्यकता	-	*40*

इस रिपोर्ट के साथ अगर हमारे देश में बेरोज़गारी की स्थिति पर निगाह डालें तो मामला ज़्यादा साफ़ हो जाता है। हमारे देश में बेरोज़गारों की संख्या एक अनुमान के अनुसार 30 करोड़ के करीब है। इसमें वे लोग भी शामिल हैं जो अपनी योग्यता या डिग्री की बजाय कोई छोटा-मोटा काम करके गुज़र कर रहे हैं। नौजवानों की बहुत बड़ी संख्या तो महँगी होती शिक्षा के कारण कैम्पसों तक भी नहीं पहुँच पा रही है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि गाँवों में रोज़गार न मिल पाने के कारण युवाओं की बड़ी आबादी शहरों की तरफ़ आ रही है। बेरोज़गारी की बढ़ती समस्या ने सरकार को भी कुछ कवायद करने पर मजबूर कर दिया है, हालाँकि कवायद से कुछ होता नहीं है, बस कुछ समय के लिए भ्रम का परदा खड़ा हो जाता है।

मिसाल के तौर पर, रोज़गार गारण्टी योजना के साथ भी यही हुआ। इसे अपनी एक उपलब्धि बताते हुए वर्तमान यूपीए सरकार ने लागू किया था। लेकिन यह योजना बहुत दिन तक भ्रम का परदा भी नहीं खड़ा कर सकती। इस योजना के तहत बेरोज़गारों को साल के 365 दिनों में से 100 दिन रोज़गार देने की बात की है। इसका क्या तुक बनता है, यह तो महान अर्थशास्त्री मनमोहन सिंह और उनकी चारण मण्डली ही बता सकती है! अगर मान भी लिया जाय कि 100 दिन रोज़गार मिलता है, जो अभी तक आ रहे आँकड़ों से असम्भव साबित हो चुका है, तो भी बाकी के 265 दिन आदमी क्या करेगा? भजन-कीर्तन? लेकिन भूखे तो भजन भी नहीं होता! कुल मिलाकर यह सरकार द्वारा देश के बेरोज़गारों के गुस्से

के ज्वालामुखी को फूटने से रोकने के लिए दिया जाने वाला एक झुनझुना है जो लगभग फुस्स हो चुका है।

वास्तविकता यह है कि इस तरह के धूम्रावरण खड़े करके पूँजीवादी व्यवस्था के कुरूप चेहरे को छिपाया जा रहा है। एक तरफ़ गगनचुम्बी इमारतें, चमचमाते मॉल और जगमगाती सड़कें हैं तो दूसरी तरफ़ देश के युवाओं का अंधकारमय भविष्य! एक तरफ़ नये-नये उद्योग लगने, रोज़गार सृजन के बड़े-बड़े दावे हैं तो दूसरी ओर रोज़गार के सीमित अवसरों को पाने के लिए दिन-ब-दिन महँगी होती जा रही उच्च शिक्षा है। हालाँकि जिनको उच्च शिक्षा नसीब होती है, उन सबको रोज़गार नहीं मिल जाता।

इसकी वजह भी बहुत स्पष्ट है। दरअसल अब विश्व पूँजीवाद के सामने बेरोज़गारों की बढ़ती फौज को रोकने का कोई रास्ता नहीं बचा है। पूँजीवाद के अन्तर्गत एक अन्तकारी बीमारी के तौर पर मन्दी आती है। मन्दी की वजह होती है गैरयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के कारण होने वाला अतिउत्पादन। जिस सेक्टर या उद्योग में मुनाफ़ा ज़्यादा होता है, सारी पूँजी उस ओर प्रवाहित होती है। नतीजतन, उस सेक्टर में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है, अतिउत्पादन होता है, बाज़ार उस माल से पट जाते हैं, दुकानों में 'सेल' के बोर्ड लटक जाते हैं, ख़रीदने का ख़रीदार नहीं होता, मुनाफ़े की दर गिरने लगती है, उत्पादन को रोकना पड़ता है या कम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अपने निजी लाभ के लिए मरा जा रहा पूँजीपति अपने मज़दूरों को तनख्वाहें नहीं देना चाहता और फिर होती है छँटनी और बढ़ती है बेरोज़गारी। इस दुर्व्यवस्था को पूँजीवाद रोक ही नहीं सकता। क्योंकि इस व्यवस्था में निजी स्वामित्व और मुनाफ़ा हर काम की प्रेरक शक्ति होते हैं। हर निजी पूँजीपति अपने मुनाफ़े के लिए निवेश करता है। ऐसा तो होता नहीं कि सारे पूँजीपति मिलकर बैठें और यह तय करें कि समाज की ज़रूरत किन-किन वस्तुओं की है और फिर यह तय कर लें कि कौन क्या पैदा करेगा! यहाँ तो सब के सब एक दूसरे के मांस को ही उबालकर खा जाने की फ़िराक में रहते हैं! किसी भी तरह एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ में रहते हैं। और इस हवस के तहत होने वाला उत्पादन नियोजित नहीं हो सकता; मुनाफ़े के लिए होने वाला उत्पादन अतिउत्पादन और फिर मन्दी की तरफ़ ले जाता है, जो पलटकर बेरोज़गारी, छँटनी और तालाबन्दी को जन्म देता है। इसलिए तमाम बौद्धिक भले ही पूँजीवाद और पूँजीपतियों को संयम और सामाजिक कल्याण करने की हिदायत देते रहें, उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला। क्योंकि पूँजीपति पूँजी पर नहीं बल्कि पूँजी पूँजीपति पर सवार होती है। अगर पूँजीपति अपने तत्काल मुनाफ़े के लिए काम न करे तो बाज़ार के जंगलराज में कोई और किसी सुबह शेयर मार्केट खुलने के साथ ही उसका नाश्ता बनाकर खा जाएगा! इसलिए यह पूँजीवाद का असाध्य संकट है। कोई अमर्त्य सेन, जोसेफ़ स्टिग्लिट्ज़, या मेघनाद देसाई इसे नहीं रोक सकते। ऐसा कोई नुस्खा ही नहीं है जो इस बीमारी का इलाज कर सके।

चूँकि पूँजीवाद के अन्तर्गत सारा काम मुनाफ़े के लिए किया जाता है इसलिए सभी समाजोपयोगी कार्यों को रामभरोसे छोड़ दिया जाता है। दूसरी ओर, पूँजीपति यह कभी नहीं चाहेंगे कि सभी को रोज़गार मिले। क्योंकि अगर सभी को रोज़गार मिल गया तो पूँजीपति की मोलभाव क्षमता शून्य होगी और मज़दूरों की मोलभाव क्षमता अनन्त। पूँजीवाद को रोज़गारशुदा मज़दूरों को निकाल देने का भय दिखाकर मज़दूरी कम करने और उसे निचोड़ने के लिए हमेशा बेरोज़गारों की एक रिज़र्व आर्मी चाहिए होती है। हाँ, यही रिज़र्व आर्मी ज़रूरत से ज़्यादा बड़ी हो जाती है तो पूँजीवाद के लिए ख़तरा पैदा हो जाता है और ऐसा होने से पूँजीवाद रोक भी नहीं सकता। दूसरी तरफ़, पूँजीपति एक दूसरे से होड़ में लागत कम करने के लिए उन्नत तकनोलॉजी लगाते हैं और मज़दूरों की छँटनी करके नियमित तौर पर होने वाले व्यय को कम करने के प्रयास में लगे रहते हैं और अपनी विशेषज्ञता स्थापित करके, उसे एक 'ट्रेड सीक्रेट' के रूप में इस्तेमाल करके दूसरे पूँजीपति को निगल जाने की फिराक में रहते हैं। इससे भी बेरोज़गारी लगातार बढ़ती है। इसे भी पूँजीवादी व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार देख तो सकते हैं लेकिन रोक नहीं सकते।

पूँजीवादी विकास के अन्तरविरोधों और विरोधाभासों को अब स्वयं पूँजीवादी अर्थशास्त्री और वित्तमंत्री तक मानने लगे हैं। वे स्वीकार कर रहे हैं कि यह है तो विकास ही लेकिन 'रोज़गार विहीन विकास'। इस विकास में विकास की सारी मलाई धनपशु चाटते हैं और मेहनतक़शों और आम नौजवान के हाथ सिर्फ़ सिफ़र आता है।

लेकिन युवा पीढ़ी इन स्थितियों को चुपचाप झेलते जाने के लिए तैयार नहीं है। एक साल पहले फ्रांस में अश्वेतों और बेरोज़गार नौजवानों ने नौकरी समेत तमाम मामलों में बरते जा रहे भेदभाव के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरकर गुस्सा जाहिर किया। उसके बाद फ्रांस में ही शिराक और विलोपाँ द्वारा किये जा रहे रोज़गार कानून संशोधन को आन्दोलन चलाकर छात्रों-नौजवानों और मज़दूरों ने वापस लेने पर मजबूर कर दिया। विश्व के अलग-अलग हिस्सों में युवाओं और मेहनतक़शों के विरोध-प्रदर्शन उग होते जा रहे हैं। हमारे यहाँ वैसा कोई संगठित प्रतिरोध अभी तक नहीं हुआ है लेकिन युवाओं में सुलग रहे गुस्से को तमाम लक्षणों से सहज ही महसूस किया जा सकता है।

बेरोज़गारी का संकट आज आम घरों के युवाओं के सामने मुँह बाए खड़ा है। उससे भी बड़ी और महत्वपूर्ण समझने वाली बात यह है कि यह पूँजीवादी व्यवस्था और सरकारें उसे दूर नहीं कर सकतीं। तब यह सोचने की ज़रूरत है कि आख़िर रास्ता क्या है? और शहीदेआज़म भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष से अधिक उपयुक्त अवसर इस काम के लिए कोई और नहीं हो सकता है कि इस व्यवस्था के कारगर विकल्प के बारे में सोचा जाये।

भगत सिंह ने कहा...

...अलग-अलग संगठन और खाने-पीने का भेदभाव हर हालत में मिटाना ज़रूरी है। छूत-अछूत शब्दों को जड़ से निकालना होगा।

जब तक हम अपनी तंगदिली छोड़कर एक न होंगे, तब तक हममें वास्तविक एकता नहीं हो सकती। इसलिए ऊपर लिखी बातों के अनुसार चलकर ही हम आज़ादी की ओर बढ़ सकते हैं। हमारी आज़ादी का अर्थ केवल अंग्रेजी चंगुल से छुटकारा पाने का नाम नहीं। वह पूर्ण स्वतंत्रता का नाम है जब लोग परस्पर घुलमिलकर रहेंगे और दिमागी गुलामी से आज़ाद हो जाएंगे।

('धर्म और हमारा स्वतंत्रता संग्राम' लेख से)

नयी पीढ़ी को फासीवादी विचारधारा की घुट्टी

● नमिता, इलाहाबाद

मध्य प्रदेश और राजस्थान में नयी पीढ़ी को फासीवादी विचारधारा की घुट्टी पिलायी जा रही है। संघ परिवार द्वारा संचालित स्कूलों में तो यह पहले से ही चला आ रहा है। लेकिन इन भाजपा शासित राज्यों में अब बाक़ायदा सरकारी स्कूलों के पाठ्यक्रमों के जरिये अब छात्र-छात्राओं को हिटलर-मुसोलिनी के आदर्शों के पाठ पढ़ाये जा रहे हैं।

राजस्थान सरकार ने 8वीं और 12वीं कक्षा के पाठ्यक्रमों में जो बदलाव किये हैं उसमें फासीवाद की तारीफ़ में कसीदे पढ़े गये हैं। आइये ऐसे पाठों के कुछ नमूने देखते हैं। 'राजनीति विज्ञान की प्रमुख अवधारणाएँ और विचारधाराएँ' नामक 12वीं कक्षा की पुस्तक में कहा गया है –

'फासीवाद की देन को निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है --(1) फासीवाद लोकतंत्र के दोषों को दूर करता है। (2) संकटकालीन स्थिति में तत्काल निर्णय की आवश्यकता होती है और इसके लिए फासीवाद उपयुक्त है। (3) फासीवाद से राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता है। (4) फासीवाद में शासन योग्य व्यक्ति के नियंत्रण में होने से राष्ट्र सुरक्षित रहता है। (5) मुसोलिनी के युग में इटली में आर्थिक और औद्योगिक विकास हुआ।'

संघ परिवार के सभी मुख और मुखौटे हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा को ही एकमात्र भारतीय अवधारणा मानते हैं और धर्म तो राष्ट्र का केन्द्रीय संघटक अवयव है। बाकी सभी धर्मावलम्बी भारत के लिए विदेशी हैं, पराये हैं और उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को भ्रष्ट किया है। संघ के शीर्ष सिद्धान्तकार गोलवरकर ने तो अपनी किताब 'वी अवर नेशनहुड डिफाइण्ड' में कहा भी है कि "मुसलमान इस देश में रह सकते हैं, लेकिन पूर्णतया हिन्दू राष्ट्र की अधीनता में, किसी भी चीज़ पर दावा न करते हुए, सुविधाओं से वंचित होकर। विशेष व्यवहार तो दूर, वे एक नागरिक के अधिकारों से भी वंचित होंगे।"

संघ परिवार के शीर्ष सिद्धान्तकारों के ये "महान" विचार अब सरकारी पाठ्यपुस्तक में चमक रहे हैं। 11वीं की समाजशास्त्र की पुस्तक में अन्य धर्मों पर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित की गई है और हिन्दू धर्म को भारतीय समाज, संस्कृति का पथ प्रदर्शक बताया गया है। मध्यकाल को भारत का अन्धकार पक्ष बताने वाली ये किताबें लिखती हैं कि "मुगलों ने हिन्दुओं को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर प्रताड़ना का जो दौर शुरू किया वह अंग्रेजों के समय भी जारी रहा। ऐसे में डा. हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की जिसने हिन्दुओ में पुनः जागृति और समाज में समरसता का संचार किया।"

हिन्दुओं में पुनः जागृति करने के नाम पर ही पिछले दिनों मध्य प्रदेश सरकार ने भी स्कूलों में वन्देमातरम् गाना और 'सूर्यनमस्कार' के कार्यक्रम को अनिवार्य बनाने की कवायद की थी। हालांकि व्यापक विरोध के कारण सरकार को घोषित करना पड़ा कि यह अनिवार्य नहीं स्वैच्छिक है।

चुनावी राजनीति की मजबूरियों के चलते भले ही संघ परिवार की राजनीतिक शाखा भाजपा दलितों को आरक्षण देने का समर्थन करती हों, लेकिन वस्तुतः आज भी तहेदिल से वह वर्ण व्यवस्था की हिमायती है। इसीलिए वह जाति व्यवस्था के उन्मूलन की बात न करके सामाजिक समरसता की बात करता है। वह अमानवीय वर्ण व्यवस्था का ही पैरोकार है।

लगभग सभी पुस्तकों में इतिहास के नाम पर पुराण-कथाओं, झूठ-फरेब और अंधविश्वासों का घालमेल है। यह बताता है कि ये भगवाधारी इतिहास से किस कदर भयाक्रान्त हैं। उन्हें पता है कि अगर भावी पीढ़ी वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि से और फासिस्टों के काले इतिहास से परिचित हो जायेगी तो उनकी सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। इसीलिए वे बौखलाये हुए हैं और जहां भी उनकी सरकारें हैं वहां तमाम शिक्षण संस्थानों, अकादमिक संस्थाओं में केसरिया ब्रिगेड के फासिस्ट टट्टुओं को भरा जा रहा है, पाठ्यपुस्तकों के साथ यह इतिहासविरोधी मनमाना तोड़फोड़ इनके इसी डर का नतीजा है।

दरअसल ये सारी कारगुजारियाँ युवा पीढ़ी के विवेक को कुण्ठित करने, उनकी तर्कशक्ति को कमज़ोर करने और उनके मानस को साम्प्रदायिक विद्वेष से भरने की कुत्सित साज़िशों के तहत किया जा रहा है। यह युवा वर्ग की परिवर्तनकामी ऊर्जा और सर्जनात्मकता को अन्ध आस्थावादी उन्मादी भीड़ में बदलने की तैयारी है। इसलिए हमें चौकन्ना रहना है। गुजरात के बाद हिन्दुत्व की नयी प्रयोगशालाएँ तैयार हो रही हैं।

संसदीय वामपंथी बातबहादुरों को प्रबन्धन कला सिखाने के लिए आमन्त्रण

● आशु, दिल्ली

अपनी सच्चाई या बेईमानी को दो तरीके से समझा जा सकता है। आगमनात्मक रूप से, यानी इण्डक्टिव लॉजिक से या फिर निगमनात्मक रूप से, यानी डिडक्टिव लॉजिक से। अभी हाल ही में भारतीय प्रबन्धन संस्थान के छात्रों और फैकल्टी ने "मार्क्सवादी" धुरंधर सीताराम येचुरी को प्रबन्धन पर लेक्चर देने के लिए बुलाया। अब इससे लाल मिर्च खाकर विरोध-विरोध की रट लगाने वाले इन तोतों को समझ लेना चाहिए कि वे मज़दूरों के हिमायती हैं या पूँजीपतियों के।

वैसे प्रबन्धन के विद्यार्थियों की यह मासूम जिज्ञासा बिल्कुल वाजिब ही थी कि आखिर ये संसदीय वातबहादुर बंगाल और केरल में उन्हीं नीतियों को कुशलता के साथ कैसे लागू करते हैं जिन्हें लागू करने के बाद केन्द्र में हर पाँच साल, तो कभी-कभी तीन

साल पर सरकारें बदल जाया करती हैं। और यहाँ देखिये! तीन दशक होने को आये, और बदस्तूर मज़दूर वर्ग और आम जनता के साथ ग़द्दारी किये जा रहे हैं और चुनाव जीते जा रहे हैं! अरे बाबू मोशाय! आपकी सफलता का राज़ क्या है? यही तो जानना चाहते थे प्रबन्धन के छात्र येचुरी साहब से! इतने लम्बे समय तक सफलतापूर्वक चार सौ बीसी कैसे कर पाते हैं आप "मार्क्सवादी" लोग?

अभी नन्दीग्राम और सिंगूर में जो कुछ हो रहा है वह सबको पता ही है। बुद्धदेव भट्टाचार्य की सरकार तो ज्योति बसु से भी चार कदम आगे बढ़कर देशी-विदेशी पूँजी को सम्मोहित करने के लिए केंचुल नृत्य किये जा रही है! और 'दि हिन्दू' को दिये गये अपने साक्षात्कार में बुद्धदेव भट्टाचार्य ने साफ़ स्वीकार कर लिया कि अब विदेशी निवेश के बिना कुछ नहीं किया जा सकता है और देशी पूँजी निवेश तो करना ही है। इसलिए मज़दूरों को अच्छी तरह से रहना चाहिए और अनुशासित रहना चाहिए। उन्हें पूँजीपतियों के साथ सहकार स्थापित करना चाहिए और अपनी ज़रूरतों और खुद पर संयम रखना चाहिए।

जब चुनाव आता है तो संसदीय वामपंथी पाखण्डी जमकर मज़दूर-मज़दूर चिल्लाते हैं और बहुत देर तक चिदम्बरम के दरवाज़े पर दरबान की तरह खड़े रहते हैं तब जाकर रोज़गार गारण्टी योजना का लॉलीपॉप लाकर जनता के हाथ में थमा देते हैं ताकि व्यवस्था का भ्रम कुछ समय और क़ायम रहे। चुनाव के वक्त तो रोज़गार गारण्टी और कामगार सामाजिक सुरक्षा कानून को लेकर सारे संसदीय वामपंथी बहुत हल्ला मचा रहे थे कि यह उनके दबाव के कारण हुआ जबकि सामाजिक सुरक्षा कानून का खाका तैयार करने वाले अर्जुन सेनगुप्ता ने खुद ही बोल दिया कि यह कानून कोई समाधान नहीं है बल्कि एक सेफ्टी वाल्व है!

लेकिन इन सारे विरोधाभासों के बावजूद लोगों में भ्रम बनाए रखने में और लोगों को बेवकूफ़ बनाकर प्रबन्धित करने में इन लाल मिर्चखोर तोतों ने अपनी दक्षता दिखला दी है। इसीलिए तो प्रबन्धन के छात्र येचुरी जी के अमृत वचन सुनने को व्यग्र हो रहे हैं! जाहिर है! समझा जा सकता है!

'इंकलाब ज़िंदाबाद' का अर्थ

हम 'यतींद्रनाथ ज़िन्दाबाद' का नारा लगाते हैं। इससे हमारा अभिप्राय यह होता है कि उनके जीवन के महान आदर्शों तथा उस अथक उत्साह को सदा-सदा के लिए बनाए रखें जिसने इस महानतम बलिदानी को उस आदर्श के लिए अकथनीय कष्ट झेलने एवं असीम बलिदान करने की प्रेरणा दी। यह नारा लगाने से हमारी यह लालसा प्रकट होती है कि हम भी अपने आदर्शों के लिए ऐसे ही अचूक उत्साह को अपनाएँ और यही वह भावना है जिसकी हम प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार हमें 'इंकलाब' शब्द का अर्थ भी कोरे शाब्दिक रूप में नहीं लगाना चाहिए। ... क्रान्ति शब्द का अर्थ प्रगति के लिए परिवर्तन की एक भावना एवं आकांक्षा है। लोग साधारणतया जीवन की परम्परागत दशाओं के साथ चिपक जाते हैं और परिवर्तन के विचार मात्र से ही काँपने लगते हैं। यही वह अकर्मण्यता की भावना है जिसके स्थान पर क्रान्तिकारी भावना जागृत करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अकर्मण्यता का वातावरण निर्मित हो जाता है और रूढ़िवादी शक्तियाँ मानव समाज को कुमार्ग पर ले जाती हैं। ये परिस्थितियाँ मानव समाज की उन्नति में गतिरोध का कारण बन जाती हैं। क्रान्ति की इस भावना से मनुष्य जाति की आत्मा स्थायी तौर ओत-प्रोत रहनी चाहिए, जिससे कि रूढ़िवादी शक्तियाँ मानव समाज की प्रगति की दौड़ में बाधा डालने को संगठित न हो सकें। यह आवश्यक है कि पुरानी व्यवस्था सदैव बदलती रहे और वह नयी व्यवस्था के लिए स्थान रिक्त करती रहे, जिससे कि यह आदर्श व्यवस्था संसार को बिगड़ने से रोक सके। यह है हमारा वह अभिप्राय जिसको हृदय में रखकर हम 'इंकलाब ज़िन्दाबाद' का नारा बुलंद करते हैं।

('मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक रामानंद चट्टोपाध्याय को लिखे गए भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त के पत्र से।)

ग़रीबी का व्यापार और उसका पुरस्कार

(पेज 8 से जारी)

में तब्दील हो जाता है जो ब्याज़ के रूप में नियमित और पक्का 'रिटर्न' देता है। ग्रामीण बैंक का कर्ज़दार एक बंधुआ मज़दूर होता है जिसके उत्पादन और उत्पादन के परिमाण के बारे में फैसला बैंक लेता है। वे ग़रीब जिन्हें औद्योगिक पूँजी सीधे-सीधे अपने शोषण के जुवे तले नहीं ला सकती थी, उन्हें सूक्ष्म ऋण के जरिये सूदखोर वित्तीय पूँजी एक बंधुआ माल उत्पादक बना लेती है। ग्रामीण बैंक के ऋण जाल में अब तक 4,059,632 लोग फँस चुके हैं। यह जाल 48,472 गाँवों तक फैल चुका है। इसके जरिये अब तक 2173139 लाख टका कर्ज़ दिया जा चुका है। फिलहाल, यह व्यवस्था गाँवों में अधमरी हालत में छोटे ग़रीब किसानों को रोकने, शहर में जनसंख्या के अत्यधिक दबाव को रोकने, सर्वहाराकरण और राजनीतिक स्तरोन्नयन की प्रक्रिया को धीमा करने, और वित्तीय पूँजी को बंगलादेशी जनता को लूटने के नये तरीक़े मुहैया कराने में सफल दिख रही है। लेकिन यह बहुत दिन तक अपने इन कार्यों को नहीं अंजाम दे पाएगी। यह बरबादी की ताल को बस विलम्बित कर सकती है, रोक नहीं सकती। कुल दरिद्रीकरण के साथ ऋण चुकाने में अक्षम रहने वाले कर्ज़दारों की संख्या में बढ़ोत्तरी होगी और नियमित 'रिटर्न' का ग्रामीण बैंक का पैटर्न गड़बड़ा जाएगा। यह प्रक्रिया शुरू होने के संकेत भी मिलने लगे हैं। दूसरी सम्भावना, जो पहले ही हक़ीकत में तब्दील होना शुरू हो चुकी है, वह यह है कि ग्रामीण बैंक का ऋण चुकता करने के लिए किसान गाँव के सूदखोरों से ऋण लेकर अपनी ज़मीनें गवाँएँगे और अंततः उजड़कर शहर जाएँगे। होना वही है जो हो रहा था, मगर थोड़ी देर से। बस इस मोहलत को मुहैया कराने के लिए मोहम्मद यूनुस को शांति का नोबेल पुरस्कार दिया गया है। अर्थशास्त्र में तो उनका कोई योगदान वाकई नहीं था क्योंकि सूक्ष्म ऋण और सूदखोरी पूँजीवाद का कोई नया आविष्कार थोड़े ही है। पूँजीवाद तो जन्म से ही सूदखोरी कर रहा है। इसमें कोई नयापन नहीं है। इसलिए मोहम्मद यूनुस को शांति का नोबेल मिलना लाज़िमी ही था। पूँजीवाद को मुर्दा शांति प्रिय है और कुछ समय तक ऐसी मुर्दा शांति बनाए रखने का नुस्खा यूनुस ने खूब सुझाया है। तो शांति के नोबेल का यूनुस से अधिक अधिकार और कोई था भी नहीं!

अब कुछ सवाल जिनका उत्तर आप खुद सोचें!

1. कुख्यात साम्राज्यवादी बीज कम्पनी मोन्साण्टो सूक्ष्म ऋण और यूनुस भाई की इतनी बड़ी समर्थक क्यों है?

2. ग्रामीण बैंक बंगलादेश सरकार को कोई टैक्स क्यों नहीं देता है?

3. नार्वे की नॉर्टेल कम्पनी के साथ साझेदारी वाली यूनुस की सेलफोन कम्पनी ग्रामीण फोन सरकार को कोई टैक्स क्यों नहीं देती?

4. क्या इस पुरस्कार और यूनुस के नार्वेइयाई फोन कम्पनी नॉर्टेल के साथ समझौते के बीच कोई रिश्ता है?

5. नॉर्टेल बिना कोई टैक्स दिये बंगलादेश से लाखों डॉलर नार्वे कैसे ले जा रही है?

6. यूनुस ने मोंसाण्टो बीज बंगलादेश में लाने का प्रयास क्यों किया था जिसे विरोध के कारण उन्हें वापिस लेना पड़ा? क्या उन्हें पता नहीं था कि मोंसाण्टो टर्मिनेटर बीज बेचता है जिसकी फसल से दुबारा उत्पादन के लिए बीज प्राप्त नहीं किये जा सकते और फिर से कम्पनी से बीज ख़रीदना पड़ता है?

7. अगर सूक्ष्म ऋण से ग़रीबी दूर हो पाती तो लाखों बंगलादेशी दुबई, सऊदी अरब, कुवैत या सिंगापुर क्यों जा रहे हैं? अगर 50-60 डॉलर कर्ज़ लेकर ग़रीबी दूर हो सकती, तो वे लाखों टके कर्ज़ लेकर बाहर बेहद बुरी कार्य स्थितियों में काम करने क्यों जा रहे हैं? क्या वे सभी मूर्ख हैं?

आह्वान यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ■ जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ■ जनचेतना, 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, **इलाहाबाद** ■ विजय इन्फार्मेशन सेण्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर** ■ जनचेतना स्टाल, कॉफी हाउस के पास, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम 5 से 8.30 तक) ■ प्रोग्रेसिव बुक सेण्टर, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बी.एच.यू. परिसर, **वाराणसी** ■ जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़, **नोएडा** (शाम 5 से 8) ■ शहीद पुस्तकालय, द्वारा डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, **मऊ** **दिल्ली** ■ अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर ■ शिवानी कौल, रूम न. -307/2, मेघदूत हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय ■ प्रसेन, रूम न.-3, ए-67, क्रिश्चियन कॉलोनी, पटेल चेस्ट, दि.वि. वि., ■ सत्यम, सी-74, दिव्यज्योति अपार्टमेंट, सेक्टर-19, रोहिणी ■ गीता बुक सेंटर, **जे.एन.यू.** ■ बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, **मंडी हाउस** ■ शिवार्थ, रूम न.-86, हिन्दू कॉलेज हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7 **बिहार** ■ पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** ■ रामनारायण राय, द्वारा राघव पटेल कपड़े की दुकान, साहेबगंज, पोस्ट करनौल, जिला-**मुजफ्फरपुर** **बंगाल** ■ बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कोलकाता** ■ जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो. करेन, जि. **जलपाईगुड़ी** ■ राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, **सिलीगुड़ी** **मध्य प्रदेश** ■ चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, जगदलपुर, **बस्तर** **महाराष्ट्र** ■ पीपुल्स बुक हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** **पंजाब** ■ सुखविन्दर, 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना

76वें शहादत दिवस (23 मार्च के अवसर पर)

क्रान्ति के दुस्साध्य कार्य के लिए सभी शक्तियों को संगठित करना होगा...

"...क्रान्ति करना बहुत कठिन काम है। यह किसी एक आदमी की ताकत के बस की बात नहीं है और न ही यह किसी निश्चित तारीख़ को आ सकती है। यह तो विशेष सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से पैदा होती है और एक संगठित पार्टी को ऐसे अवसर को सम्भालना होता है और जनता को इसके लिए तैयार करना होता है। क्रान्ति के दुस्साध्य कार्य के लिए सभी शक्तियों को संगठित करना होता है इस सबके लिए क्रान्तिकारी कार्यकताओं को अनेक कुर्बानियाँ देनी होती हैं।...हम तो लेनिन के अत्यन्त प्रिय शब्द 'पेशेवर क्रान्तिकारी' का प्रयोग करेंगे। पूरा समय देने वाले कार्यकर्ता, क्रान्ति के सिवाय जीवन में जिनकी और कोई ख़्वाहिश ही न हो। जितने अधिक ऐसे कार्यकर्ता पार्टी में संगठित होंगे, उतने ही सफलता के अवसर अधिक होंगे।

पार्टी को ठीक ढंग से आगे बढ़ाने के लिए जिस बात की सबसे अधिक जरूरत है वह यह है कि ऐसे कार्यकर्ता स्पष्ट विचार, प्रत्यक्ष समझदारी, पहलकदमी की योग्यता और तुरन्त निर्णय कर सकने की शक्ति रखते हों। पार्टी में फौलादी अनुशासन होगा और यह जरूरी नहीं कि पार्टी भूमिगत रहकर ही काम करे, बल्कि इसके विपरीत वह खुले रूप में काम कर सकती है, यद्यपि स्वेच्छा से जेल जाने की नीति पूरी तरह छोड़ दी जानी चाहिए। इस तरह बहुत कार्यकर्ताओं को गुप्त रूप से काम करते हुए जीवन बिताने की भी जरूरत पड़ सकती है, लेकिन उन्हें उसी तरह पूरे उत्साह से काम करते रहना चाहिए और यही है वह ग्रुप जिससे अवसर सँभाल सकने वाले नेता तैयार होंगे।

पार्टी को कार्यकर्ताओं की ज़रूरत होगी, जिन्हें नौजवानों के आन्दोलनों से भरती किया जा सकता है। इसीलिए नवयुवकों के आन्दोलन सबसे पहली मंजिल हैं, जहाँ से हमारा आन्दोलन शुरू होगा। युवक आन्दोलन को अध्ययन-केन्द्र (स्टडी सर्किल) खोलने चाहिए। लीफ़लेट, पैम्फ़लेट, पुस्तकें, मैगज़ीन छापने चाहिए। क्लासों में लेक्चर होने चाहिए। राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए भरती करने और प्रशिक्षण देने की यह सबसे अच्छी जगह होगी।

उन नौजवानों को पार्टी में ले लेना चाहिए, जिनके विचार विकसित हो चुके हैं और वे अपना जीवन इस काम में लगाने के लिए तैयार हैं। पार्टी कार्यकर्ता नवयुवक आन्दोलन के काम को दिशा देंगे। पार्टी अपना काम प्रचार से शुरू करेगी। यह अत्यन्त आवश्यक है। गदर पार्टी (1914-15) के असफल होने का मुख्य कारण था—जनता की अज्ञानता, लगावहीनता और कई बार विरोध। इसके अतिरिक्त किसानों और मजदूरों का सक्रिय समर्थन हासिल करने के लिए भी प्रचार जरूरी है। पार्टी का नाम कम्युनिस्ट पार्टी हो। ठोस अनुशासन वाली राजनीतिक कार्यकर्ताओं की यह पार्टी बाकी सभी आन्दोलन चलायेगी। इसे मजदूरों व किसानों की तथा अन्य पार्टियों का संचालन भी करना होगा और लेबर यूनियन कांग्रेस तथा इस तरह की अन्य राजनीतिक संस्थाओं पर प्रभावी होने की कोशिश भी पार्टी करेगी। पार्टी एक बड़ा प्रकाशन अभियान चलायेगी जिससे राष्ट्रीय चेतना ही नहीं, वर्ग, चेतना भी पैदा होगी। समाजवादी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जनता को सचेत बनाने के लिए सभी समस्याओं की विषयवस्तु प्रत्येक व्यक्ति की समझ में आनी चाहिए और ऐसे प्रकाशनों को बड़े पैमाने पर वितरित किया जाना चाहिए।"

(भगतसिंह, 'क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा' से)

किसका विकास, कैसा विकास : पूँजीपतियों के मुनीम की लफ़्फ़ाज़ी

● अरविन्द

अभी हाल ही में अचानक कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार को इलहाम हुआ कि महँगाई वाकई बढ़ गयी है! दरअसल, इस इलहाम की फौरी वजह पंजाब और उत्तराखण्ड के चुनावों में कांग्रेस की हार थी। सोनिया गाँधी को स्वयं स्वीकार करना पड़ा कि हार का एक बड़ा कारण महँगाई है और आर्थिक विकास की दर तो क़ाबिले-तारीफ़ है लेकिन सरकार को इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि महँगाई और मुद्रास्फीति भी काबू में रहे। राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर चर्चा के दौरान मनमोहन सिंह ने जल्दी ही महँगाई पर लगाम लगाने की बात की। उसके सप्ताह भर के भीतर ख़बर आयी कि मुद्रास्फीति में थोड़ी और बढ़ोत्तरी हो गयी है। यह साफ़ है कि महँगाई पर ये चिन्ताएँ वास्तविक हों (जिसकी उम्मीद कम ही है) या फिर नकली, महँगाई पर काबू पाना इस व्यवस्था के लिए मुश्किल है। पूँजीवादी विकास के साथ मुद्रास्फीति और महँगाई हमेशा नत्थी होती है। इन चिन्ताओं की असलियत भी संसद में प्रस्तुत वर्ष 2006-07 के आर्थिक सर्वेक्षण पर एक निगाह डालते ही साफ़ हो जाती है। मनमोहन-मोण्टेक-चिदम्बरम गिरोह के पास आम आदमी को देने के लिए झूठे आश्वासनों के अलावा कुछ नहीं है और उसका सारा ध्यान फिक्की और एसोचैम में बैठे अपने आक़ाओं की सेवा करने पर लगा हुआ है।

इस आर्थिक सर्वेक्षण में पिछले तीन वर्षों से विकास की दर लगातार 8 प्रतिशत होने और चालू वित्तीय वर्ष में इसके 9 प्रतिशत हो जाने पर खूब जश्न मनाया गया है। लेकिन साथ ही यह रिपोर्ट मुद्रास्फीति की दर 6.5 प्रतिशत से अधिक हो जाने पर चिन्ता भी प्रकट करती है। कृषि में वृद्धि दर सिर्फ़ 2.2 प्रतिशत होने पर भी काफ़ी रोना रोया गया है। रिपोर्ट सन्त भाव से कहती है कि आज "समावेशी विकास" की ज़रूरत है जिसके फल नीचे तक पहुँचें। वर्ष 2007-08 के केन्द्रीय बजट में चिदम्बरम साहब ने इन चिन्ताओं का कितना ध्यान रखा है यह देखना दिलचस्प होगा। लेकिन उससे पहले इस पूँजीवादी विकास दर की पोल-पट्टी खोलना ज़रूरी है जिस पर रिपोर्ट हर्षातिरेक में है।

कुछ बुर्जुआ आर्थिक विश्लेषक स्वयं यह कह रहे हैं कि अर्थव्यवस्था की मौजूदा उच्च विकास दर के पीछे काफ़ी हद तक आँकड़ों का हेराफेरी भी है। कहना पड़ेगा कि इन दावों में काफ़ी हद तक सच्चाई है। वर्ष 1999-2000 में राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी और आधार वर्ष में परिवर्तन किया गया था। आधार वर्ष को पैमाना मानकर ही विकास को मापा जाता है। क्या इसे महज संयोग माना जाये कि जिन क्षेत्रों में सांख्यिकीय संशोधन किये गये थे उन्हीं क्षेत्रों में हाल के वर्षों में बचत और निवेश में सबसे अधिक बढ़ोत्तरी दर्ज की गयी है? बहरहाल, इन सांख्यिकीय चमत्कारों की बात छोड़ दें तो भी अहम सवाल यह है कि ऊँची वृद्धि दर और "समावेशी विकास" एक-दूसरे के लिए इतने पराये क्यों बने हुए हैं? यदि सरकार यह मानती है कि यह विकास समावेशी, यानी सबको समेटने वाला नहीं है, तो इसका अर्थ है कि वह मान रही है कि यह विकास चन्द लोगों के लिए है।

आर्थिक समीक्षा में सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर के साथ ही विकास के जो अन्य आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं उनमें प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर 7.4 प्रतिशत, बचत दर 32.4 प्रतिशत और निवेश दर 33.8 प्रतिशत दर्शायी गयी है। भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार 180 अरब डालर तक पहुँच गया है और वर्ष 2005-06 में पहले आठ महीनों में भारत ने निर्यात की वृद्धि दर के मामले में चीन को पछाड़ दिया है। उपर्युक्त अवधि में चीन की निर्यात वृद्धि दर केवल 25.8 रही जबकि भारत ने 40.4 प्रतिशत की निर्यात वृद्धि दर्ज की। पिछले दिनों टाटा और बिड़ला ने विदेशी कम्पनियों का अधिग्रहण भी किया। लेकिन बुर्जुआ समष्टि अर्थशास्त्र (मैक्रो इकोनॉमिक्स) के ये विकास सम्बन्धी आँकड़ें विकास की वास्तविक तस्वीर सामने नहीं लाते। असली तस्वीर तब सामने आती है जब हम सच्चाई के दूसरे पहलू पर नज़र डालते हैं।

खुद आर्थिक समीक्षा में स्वीकार किया गया है कि रोजगार का सृजन अत्यन्त धीमी रफ्तार से हो रहा है। वर्ष 2001-2005 के दौरान रोजगार वृद्धि दर केवल 2.5 प्रतिशत रही है जबकि इससे पूर्व के पाँच वर्षों (1995-2000) के दौरान यह केवल 1.6 प्रतिशत रही है। अगर केवल संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर की बात करें तो पिछले दस वर्षों (1994-2004) में यह ऋणात्मक (- 0.38 प्रतिशत) रही है। इसके पूर्व के दस वर्षों (1983-94) में भी वृद्धि दर केवल 1.2 प्रतिशत ही रही है। जाहिर है कि संगठित क्षेत्र में रोजगार की यह कमी निजीकरण की नीतियों के कारण ही पैदा हुई है। लेकिन आर्थिक सर्वेक्षण जब रोजगार वृद्धि के उपायों की बात करता है तो अपनी आशायें निजी क्षेत्र पर ही टिकाता है जबकि उपर्युक्त अवधि में निजी क्षेत्र में भी रोजगार वृद्धि दर नगण्य ही रही है। निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट है:

तालिका-एक

संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर (प्रतिशत में)

वर्ष	संगठित क्षेत्र (निजी-सार्वजनिक)	निजी क्षेत्र
1983-94	1.2	0.44
1994-2004	-0.38	0.61

स्रोत : भारत सरकार का आर्थिक सर्वेक्षण 2006-2007

एक तरफ़ तो रिपोर्ट में संगठित क्षेत्र में रोज़गार सृजन की दयनीय स्थिति पर चिन्ता जतायी गयी है वहीं ऐसी कोई सिफ़ारिश भी नहीं की गयी है कि निजीकरण पर रफ़्तार पर रोक लगायी जाय। उल्टे, रिपोर्ट में निजीकरण की प्रक्रिया और सार्वजनिक क्षेत्र में कर्मचारियों की छँटनी को स्वागतयोग्य बताया गया है और कहा गया है कि इस क्षेत्र का उद्देश्य रोज़गार देना नहीं है :

"सार्वजनिक क्षेत्र में कर्मियों की संख्या को युक्तिसंगत बनाना, जिसका प्राथमिक उद्देश्य शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क और सिंचाई जैसी आवश्यक सेवाओं को उपलब्ध कराना है न कि प्रत्यक्ष रोजगार देना, स्वागतयोग्य है और इसे जारी रहना चाहिए... ।"

ऊँची वृद्धि दर का दूसरा पहलू ही यही है—रोज़गार विहीन विकास। 'स्टाफिंग' लीज नामक एक निजी संस्था के सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष 2020 तक भारत में बेरोजगारों की संख्या 50 करोड़ के ऊपर पहुँच जायेगी और बेरोजगारी दर 12 प्रतिशत।

यह ऊँची वृद्धि दर ग़रीब जनता के लिए कोई मायने नहीं रखती। अगर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के ही कुछ आँकड़ों पर नज़र डालें तो यह बात साफ़ हो जाती है। नमूना सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष 1996 में गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वालों की संख्या 26 करोड़ थी जो 2005 में बढ़कर 22 करोड़ हो चुकी है। इसी प्रकार देश में अभी भी 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हैं और इतने ही लोग फुटपाथों पर सोते हैं। इससे साफ़ जाहिर है कि देश में भवन निर्माण उद्योग में जो तेज़ी आयी है उसका लाभ केवल खुशहाल मध्य वर्ग तक सिमट कर रह गया है। पिछले दिनों एक बीमा कम्पनी ने अपने एक सर्वेक्षण में इस विकास की पोल जाने-अनजाने खोल दी थी। इसमें कहा गया है कि देश की 65 प्रतिशत आबादी स्वास्थ्य, चिकित्सा और अस्पतालों का खर्च उठाने की स्थिति में नहीं हैं। जाहिर है कि राष्ट्रीय आय में जो बढ़ोत्तरी हो रही है वह मुट्ठी भर लोगों के हाथों में संचित हो रही है। एक तरफ वंचितों की यह तस्वीर है तो दूसरी ओर समृद्धि की मीनारें ऊँची होती जा रही हैं। देश में प्रति वर्ष 20 प्रतिशत की दर से करोड़पतियों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

सारे परजीवी, मुफ़्तखोरों और मुनाफ़ाखोरों के लिए तो यह वृद्धि और विकास वाकई मलाई-कुल्फी और रबड़ी-फालूदा लेकर आयी है—वह भी लगभग मुफ़्त में। नीचे जो आँकड़े दिये जा रहे हैं उसे देखकर समझा जा सकता है कि इस देश का पूँजीपति वर्ग मोण्टेक-चिदम्बरम की सेवाओं से इतना प्रसन्न क्यों है। बड़ी देशी औद्योगिक कम्पनियाँ और मुट्ठीभर ऊपरी जमातें सामाजिक सम्पदा का निजी संचय किस तरह कर रही हैं उसे समझने के लिए कुछ आँकड़े ही पर्याप्त हैं। देशी कम्पनियाँ राष्ट्रीय आय का 4.1 प्रतिशत शेष समाज की बचत से प्राप्त करती हैं जबकि सरकार करों द्वारा राष्ट्रीय आय का 11 प्रतिशत प्राप्त करती है। कम्पनियों द्वारा जनता से की जाने वाली इस "वसूली" (राष्ट्रीय आय का 4.1 प्रतिशत) में बढ़ती कीमतों के रूप में उद्योगपतियों द्वारा उपभोक्ताओं से की गयी ज़बरिया वसूली को भी जोड़ दें तो व्यक्तियों-परिवारों की आय, बचत और सम्पत्ति (भूमि अधिग्रहण के रूप में ज़बरन तथा कम कीमतों पर किया गया हस्तान्तरण) से लिया गया हिस्सा सरकारी कर वसूली के आसपास आराम से पहुँच जायेगा। इसके अतिरिक्त इस सरकार की पक्षधरता भी इस बात से जाहिर हो जाती है कि कम्पनियों और सम्पत्तिवान तबकों के पास लगभग 1.16 लाख करोड़ रुपये का सरकारी कर बकाया है। इस मुट्ठी भर तबके को हर साल करों में भारी छूट मिलती है (पिछले साल यह राशि 58 हज़ार करोड़ रुपये आँकी गयी थी)। इस तबके ने बैंकों के लगभग 60 हजार करोड़ रुपये हजम कर रखे हैं और डकार भी नहीं ले रहे हैं। इसके अलावा मुनाफे, डिविडेण्ड, ब्याज आदि के रूप में होने वाली प्रत्यक्ष आमदनी का कहना ही क्या! क्या अब भी कोई शुबहा है कि 9.2 प्रतिशत की विकास दर से किसकी तोंद फूलती जा रही है और किसके चेहरे पर लाली छा रही है? आय और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण का आलम यह है कि शेयर बाज़ार की प्रतिभूतियों का मोल राष्ट्रीय आय के 90 प्रतिशत के बराबर पहुँच चुका है। यह भारतीय पूँजीवाद के अधिक से अधिक अनुत्पादक, सट्टेबाज़ और जुआरी होने का ही लक्षण है।

राष्ट्रीय आय के वितरण की इस भीषण असमानता को देखते हुए एक साधारण पाठक भी यह समझ सकता है कि पूँजीवादी सरकारों को पूँजीपतियों की मैनेजमेण्ट कमेटी क्यों कहा जाता है। वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में समावेशी विकास समता और सामाजिक न्याय की दुहाई तो खूब दी है लेकिन एक भी क़दम ऐसा नहीं उठाया है जिससे उनकी इन घोषित प्रतिबद्धताओं की झलक भी मिले। उन्होंने वर्ष 2007-2008 के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण विकास और राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना जैसी ध्वजपोत कही जाने वाली तथाकथित आठ कल्याणकारी योजनाओं के लिए जो बजटीय आवण्टन किया है उसकी मामूली चीरफाड़ से ही असलियत सामने आ जाती है।

वित्त मंत्री ने शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में इस बार बजटीय आवण्टन में क्रमशः 34.2 प्रतिशत और 21.9 प्रतिशत बढ़ोत्तरी का खूब हल्ला मचाया है। जबकि असलियत यह है कि इसके बावजूद भी यह आवण्टन सकल घरेलू उत्पाद के तीन प्रतिशत से भी कम है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ज़मीनी स्तर पर इन आवण्टनों का लाभ किस हद तक पहुँचेगा यह अब तक के अनुभवों के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। यहाँ यह भी दिलचस्प है कि **शिक्षा मद के आवण्टन की राशि जुटाने के लिए जो 3 प्रतिशत उपकर लगाया गया है।** उसका बोझ गरीब और अमीर सबको बराबर-बराबर उठाना है। शायद वित्तमंत्री महोदय के लिए 'समता के विचार' का अर्थ यह है कि गरीब हो या अमीर सबकी हजामत समान भाव से की जाये!

सरकार ने ध्वजपोत कहे जाने वाले आठ कल्याणकारी कार्यक्रमों के बजटीय आवण्टन को बढ़ा हुआ दिखाकर आँखों में धूल झोंकने की कोशिश की है। इन सभी कार्यक्रमों के आवण्टन में औसत बढ़ोत्तरी सात प्रतिशत हुई है लेकिन अगर औसतन लगभग सात प्रतिशत मुद्रास्फीति पर गौर करें तो यह बढ़ोत्तरी लगभग शून्य हो जाती है। खाद्यान्न सब्सिडी के आवण्टन में बढ़ोत्तरी मात्र 6.2 प्रतिशत है जो वस्तुतः कटौती के समान है। इसी तरह का घपला हमें राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी के आवण्टन में दिखायी देता है। पिछले बजट में इस योजना को 200 जिलों में शुरू करने की घोषणा करते हुए 11,300 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था जो आवश्यकता से काफी कम था। इस बार 130 और नये जिलों तक इस योजना का दायरा बढ़ाया गया है लेकिन पिछले साल की आवण्टित रकम में केवल 700 करोड़ रुपये की वृद्धि की गयी है। यानी जिलों की संख्या में 40 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी जबकि धन आवण्टन में बढ़ोत्तरी की गयी है मात्र 6 प्रतिशत।

जब पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार बढ़ती महँगाई और मुद्रास्फीति पर चिन्ता प्रकट करते हैं तो दरअसल उनकी चिन्ता इसके सामाजिक और राजनीतिक परिणामों को लेकर होती है। वैसे तो चीज़ों की कीमतें बढ़ाकर तात्कालिक मुनाफ़ा सुरक्षित करना और मुद्रास्फीति बढ़ाकर वास्तविक वेतन को घटा देना तो एक प्रचलित पूँजीवादी तरीका होता है। कई बार पूँजीवादी सरकारें ऐसा करती हैं कि वेतन बढ़ाती हैं लेकिन उससे तेज़ रफ़्तार से मुद्रास्फीति बढ़ाकर वास्तविक वेतन घटा देती हैं। लेकिन लम्बे समय तक मुद्रास्फीति का बने रहना या इसकी वृद्धि दर का दहाई के अंकों को पार कर जाना उलटकर मुनाफे को नुकसान भी पहुँचाने लगता है। क्योंकि इससे खरीदारों की क्रय शक्ति घट जाती है और मालों की माँग कम हो जाती है जिसका सीधा असर उत्पादक गतिविधियों पर पड़ता है और इससे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर कम हो जाती है। इसलिए सरकारें एक हद तक मुद्रास्फीति नियंत्रित करती भी नज़र आती हैं। यानी, बढ़ती महंगाई सं 'आम आदमी' को होने वाली परेशानियों की वजह से नहीं वरन पूँजीवादी विकास की ज़रूरतों से सरकारें मुद्रास्फीति कम करने की कवायदें करती नज़र आती हैं। चिदम्बरम ने नये बजट में भी मुद्रास्फीति कम करने के कुछ उपाय किये हैं। लेकिन एक स्तर तक मुद्रस्फीति का बने रहना पूँजीवादी विकास के लिए शुभ और पूँजीपतियों के लिए खुशी का सबब होता है। इसी सच्चाई को चिदम्बरम ने अपने एक बयान में स्वीकार किया था। उन्होंने कहा था कि विकास की मौजूदा दर को बनाये रखने के लिए एक सीमा तक मुद्रास्फीति का बने रहना जरूरी है और लोगों को इसके साथ जीने की आदत डाल लेनी चाहिए। हालांकि यह बयान उन्होंने तब दिया था जब पंजाब और उत्तराखंड के चुनाव नतीज़े आये नहीं थे! अब मुद्रास्फीति को लेकर प्रकट की जाने वाली "चिन्ताएँ" चुनावी नतीजों की मार से निकल रही हैं। आख़िर पूँजीपतियों की सेवा करने के लिए भी एक हद तक जनता के प्रति जवाबदेही दिखाना और उसका विश्वास अर्जित करना जरूरी होता है। चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में लोगों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि उनके द्वारा उठाये गये क़दमों से मुद्रास्फीति पाँच से साढ़े पाँच फीसदी बढ़ोत्तरी के अपने दशकों से प्रचलित ढर्रे पर आ जायेगी मानो यह दर कोई प्राकृतिक नियम हो। दरअसल, दशकों से बनी हुई 5.5 प्रतिशत की मुद्रास्फीति से पूँजीपतियों-व्यापारियों-सटोरियों का मुट्ठी भर तबका राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक हिस्सा हड़पता चला आ रहा है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में तेज़ी के साथ शेयर बाज़ार अधिक से अधिक चंचल होता जा रहा है। शेयर बाज़ार में आने वाला उछाल या गिरावट अर्थव्यवस्था की सेहत के बारे में कुछ भी नहीं बताता। वस्तुतः बुनियादी अर्थव्यवस्था के विकास से इसका कोई सीधा रिश्ता नहीं रह गया है। प्राथमिक स्तर का शेयर कारोबार, जो एक हद तक अर्थव्यवस्था की वास्तविक हलचलों का पैमाना माना जा सकता है, आज समूचे शेयर कारोबार का एक बेहद छोटा हिस्सा रह गया है। प्राथमिक शेयरों के ऊपर कई स्तरों की सट्टेबाजी का बाजार इतना विस्तृत हो चुका है कि अब शेयरबाजार वस्तुतः जुआघर बन चुके हैं जिनमें अरबों-खरबों की मुद्रा-पूँजी हवा के गुब्बारों की तरह फूलती जाती है। दूसरे शब्दों में, शेयर बाजार आज केवल ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों द्वारा पूँजी जुटाने का माध्यम ही नहीं बल्कि यह मुद्रा-पूँजी के निवेश का एक स्वतंत्र स्वायत्त क्षेत्र बन चुका है। यह प्राथमिक शेयरों के द्वितीयक, तृतीयक, चतुर्थक स्तरों पर सट्टाबाजार के जरिये निरन्तर क्रियाशील रहता है।

नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के साथ ही शेयर बाज़ार में निवेश को आमन्त्रित करने के लिए सरकार ने तरह-तरह की छूटें दीं। शेयर बाजार के बड़े खिलाड़ी उद्योगों और बैंकों से साँठ-गाँठ करके अनेकानेक प्रकार से शेयरों के भाव चढ़ाते-गिराते रहते हैं और रातों-रात अरबों का वारा-न्यारा करते हैं। शेयर बाजार में निवेश का पैमाना या संवेदी सूचकांक का चढ़ना-गिरना अर्थव्यवस्था की वास्तविक उत्पादक गतिविधियों से वस्तुतः इतना कम संचालित होता है कि इसका ठीक-ठीक पता लगाना मुश्किल होता है कि कब किसी अनिष्टकारी आर्थिक सूचना या राजनीतिक घटनाक्रम या यहाँ तक कि किसी अफवाह मात्र से शेयर बाजार औंधे मुँह गिर पड़े। शेयर बाजार में निवेशित हो रही यह पूँजी इतनी नाजुक मिजाज है कि कब मात्र मौसम की रंगत बदलने से होने वाले सम्भावित नुकसान की आशंका में बिकवाली शुरू हो जाये और विदेशी संस्थागत निवेशक शेयर बाजार से पूँजी निकालकर रफू-चक्कर हो जायें। कुछ सालों पहले पूर्वी एशियाई देशों में जो शेयर विध्वंस हुआ था वह इसी उड़नछू या आवारा पूँजी की करतूत थी।

यह उड़नछू पूँजी आज भारत के शेयर बाजार में भारी परिमाण में लगी हुई है जो उपनी नाजुकमिजाजी के कारण सेंसेक्स को उठाती-गिराती रहती है। सेंसेक्स में पिछले लम्बे अर्से से जो भारी उछाल दिखायी देती रही है वह विदेशी संस्थागत निवेशकों के कारण ही है। भारत के शेयर बाजार में गिरावट का कारण मुख्य रूप से विदेशी उड़नछू पूँजी की करतूत ही थी। वैसे शेयर बाजार के कुछ बुर्जुआ जानकारों का यह मानना है कि यह गिरावट चीन द्वारा अपनी अर्थव्यवस्था की 'ओवरहीटिंग' रोकने के लिए उठाये गये कुछ कदमों की वजह से है। कुछ का यह भी मानना है कि इसका एक और कारण डालर के मुकाबले येन की कीमत बढ़ना भी है। हो सकता है इस तात्कालिक गिरावट के पीछे यही कारण हों लेकिन बुनियादी बात है उड़नछू पूँजी की करामात। यह अनुत्पादक पूँजीनिवेश आज के पूँजीवाद की एक लाक्षणिक विशेषता बन चुका है जो विश्व पूँजीवाद की अधिकाधिक परजीवी और मरणशील प्रकृति को ही परिलक्षित कर रहा है।

वित्तमंत्री पी. चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में लफ्फाजी की है कि उनका मुख्य जोर 'समावेशी विकास, समता और सामाजिक न्याय' पर केन्द्रित है। यह सौ फीसदी लफ्फाजी इसलिए है क्योंकि पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के उन्मूलन के बगैर कोई भी चीज़ विकास के इस पैटर्न को बदल नहीं सकती। दरिद्रता के सागर में समृद्धि की मीनारें खड़ी करना तो पूँजीवादी विकास की फ़ितरत है। लेकिन पूँजीपतियों का यह मक्कार मुनीम मुस्कुराते हुए जनता को बेवकूफ बनाने की कवायदों में जुटा हुआ है कि पूँजीवादी विकास के तहत भी समावेशी विकास हो सकता है।

लेकिन ऐसी मक्कारियाँ बहुत दिनों तक नहीं चल सकतीं। पूँजीवाद के सभी 'शॉक एब्ज़ॉर्बर्स' अब संतृप्त हो रहे हैं। जनता अपने जीवन से यह समझती जा रही है कि किसी भी चुनावी पार्टी की सरकार हो, उनकी आर्थिक नीतियों के केन्द्र में मनुष्य नहीं मुनाफ़ा है। बजट में मुद्रास्फीति रोकने, महँगाई रोकने आदि पर काफ़ी दिव्य वचन उचारे गये हैं। लेकिन विकास की दिशा यही रहते हुए और पूँजीवाद के कायम रहते यह सम्भव नहीं है।

राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित नौजवानों के लिए कुछ ज़रूरी किताबें

शहीदे आज़म की जेल नोटबुक	भगतसिंह	रु. 60
भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़		रु. 175
क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास	शिव वर्मा	रु. 10
भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति	बिपन चन्द्र	रु. 10
छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें	आह्वान पुस्तिका-1	रु. 10
आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष	आह्वान पुस्तिका-2	रु. 10
ईश्वर का बहिष्कार	राधामोहन गोकुलजी	रु. 15
लौकिक मार्ग	राधामोहन गोकुलजी	रु. 15
धर्म का ढकोसला	राधामोहन गोकुलजी	रु. 15
स्त्रियों की स्वाधीनता	राधामोहन गोकुलजी	रु. 15

विहान आपके बीच आया है एक अँधेरे समय में अँधेरे के बारे में सच्चाइयाँ बयान करते और उजाले की उम्मीदों के गीतों को लेकर

विहान पेश करता है :

उजाले के दरीचे

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मुक्तिबोध, शशिप्रकाश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पॉल रॉबसन के क्रान्तिकारी गीत

प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें :
जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ
फोन : (0522) 2786782
विहान, बी- 100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 फोन (011) 65976788

क्या जुल्मतों के दौर में भी गीत गाये जायेंगे
हाँ, जुल्मतों के दौर के ही गीत गाये जायेंगे।
— बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

Side A:
1 शहीदों के लिए — शशिप्रकाश
2 दरबारे-वतन में — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3 आँधी के झूले पर झूलो — गजानन माधव मुक्तिबोध
4 साथियों! आगे बढ़ो — शशिप्रकाश
5 तोड़ो ये दीवारें — शशिप्रकाश
6 चलो फिर से मुस्कराएं — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7 जारी है — सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
8 पैसा — विहान टोली

Side B:
1 सिपाही का मर्सिया — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
2 रहबरे-मुल्को कौम बता — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3 बीस्तीर्णो दुपारेर — पॉल रोब्सन
4 रउरा सासना के बाटे ना — गोरख पाण्डेय
5 दुनिया के हर सवाल के — शशिप्रकाश
6 इन्तेसाब — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7 हम मेहनतकश — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
8 युद्धबन्दियों का गीत — शशिप्रकाश
9 इण्टरनेशनल — यूजीन पोतिए

विहान टोली
मुख्य स्वर और इलेक्ट्रिक एवं अकाउस्टिक गिटार — *अभिनव*
स्वर एवं ढपली — *तपीश* तबला — *नवकिशलय*
सहायक स्वर — *पवन, प्रसेन, अजय, लता, योगेश, विजय और गौरव*

कैसेट (90 मिनट) - रु. 60, ऑडियो सीडी - रु. 125

ईमेल: vihaan_disha@rediffmail.com
वेबसाइट: www.betarecords.com/vihaan

AHWAN Campus Times • January-March, 2007 RNI No. 57527/93

क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन वर्ष

(23 मार्च 2005–28 सितम्बर 2008)

भगतसिंह और उनके साथियों की
शहादत की 75वीं वर्षगाँठ
और जन्मशताब्दी के तीन ऐतिहासिक
वर्षों के दौरान
नए जन मुक्ति संघर्ष की
तैयारी के संकल्प और सन्देश के साथ
क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं की देशव्यापी

स्मृति संकल्प यात्रा

हम सभी सच्चे युवाओं का आह्वान करते हैं!
हम तमाम जिन्दा लोगों को आवाज देते हैं!!
हम तूफान के अग्रदूतों को आमंत्रित करते हैं!!!

भगतसिंह की वीरता और कुर्बानी से तो पूरा देश परिचित है लेकिन इस देश के पढ़े-लिखे नौजवान तक यह नहीं जानते कि 23 वर्ष की छोटी सी उम्र में फांसी का फन्दा चूमने वाला वह जाँबाज़ नौजवान कितना ओजस्वी, प्रखर और दूरदर्शी विचारक था! यह हमारी जनता का दुर्भाग्य है और सत्ताधारियों की साज़िश का नतीजा है। अब यह हमारा काम है कि हम भगतसिंह और उनके साथियों के विचारों को जन-जन तक पहुँचाएँ, उनकी स्मृति से प्रेरणा लें और उनके विचारों के आलोक में अपने देशकाल की परिस्थितियों को समझकर नई क्रान्ति की दिशा तय करें और फिर उस राह पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ें।

भगतसिंह के विचार क्षितिज पर अनवरत जलती मशाल की तरह हमें दिशा दिखला रहे हैं। अब गाँव-गाँव और शहर-शहर में और तमाम् कालेजों-विश्वविद्यालयों में नौजवानों और छात्रों को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन बनाने होंगे। उन्हें चुनावबाज़ मदारियों का पिछलग्गू बनने से बचना होगा। इसके बाद, जैसा कि जेल की कालकोठरी से युवाओं को भेजे गये अपने सन्देश में भगतसिंह ने कहा था, छात्रों-नौजवानों को कारखानों के मज़दूरों और गाँव की झोपड़ियों तक जाना होगा और तमाम मेहनतकशों को संगठित करना होगा। यही सन्देश लेकर हम इस देश के हर जीवित युवा हृदय तक पहुँचना चाहते हैं।

साथियो! बैठे-बैठे सोचते रहने से तो हर राह मुश्किल लगती है। राह की कठिनाइयों को यात्रा शुरू करने के बाद ही दूर किया जा सकता है। भगतसिंह और उनके साथियों का सपना एक जलता हुआ प्रश्न बनकर हमारी आँखों में झाँक रहा है। उनकी विरासत हमें ललकार रही है और भविष्य हमें आवाज़ दे रहा है। एक ज़िन्दा क़ौम के नौजवान इसकी अनसुनी नहीं कर सकते। हम एक नई क्रान्ति की तैयारी के लिए, एक नये क्रान्तिकारी नवजागरण का सन्देश पूरे देश में फैला देने के लिए आपका आह्वान करते हैं।

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की ओर से चलाये जा रहे स्मृति संकल्प यात्रा के पर्चे का अंश

प्रमुख सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094 • आह्वान कार्यालय, संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर • डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 • 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, पर्फेक्ट-3, पखोवाल रोड, लुधियाना